[सूचना—इस परिशिष्ट को अथर्ववेद भाष्य की मन्त्र सूची से पहिले लगालीजिये ।]

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्ये ।

परिशिष्टम् ॥

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.
Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.

सर्वाधिकारः स्वाधीन एव भाष्यकारेण रक्षितः ।

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि } संवत् १६७८ वि० सन् १६२१ ई० } मूल्यम् ।≡)

अथर्ववेद भाष्य परिशिष्ट और मन्त्र सूची सहित पूरा हो गया, पर सूची और छप रही है ।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad.)

॥ ओ३म् ॥

आनन्द समाचार ॥ अथर्ववेद भाष्य छप गया ॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

१—**अथर्ववेदभाष्य**— अथर्ववेद का अर्थ अभी तक आर्य भाषा (हिन्दी) में न था। और संस्कृत में भी श्री सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपा से अथर्ववेद का भाष्य भी आर्य भाषा (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाणों सहित, प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने संवत् १९६६ वि० में आरंभ करके श्रीमान् राजाधिराज धीर-वीर-चिरप्रतापी श्री सयाजी राव गयकवाड़ बड़ौदाधीश तथा श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रांत और पंजाब प्रांत तथा विद्वान् ग्राहक महाशयों की विशेष प्रचार सहायता से पूरा कर लिया।

२—इस वेद के बीसों काण्डों का भावपूर्ण-संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छप कर उपस्थित है। वेदप्रेमी महाशय सब स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें, छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल आठपेजी है।

३—पूरे भाष्य के स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन मूल्य में से २०) सैकड़ा छोड़कर भाष्य पाते हैं। डाक व्यय और कपड़े की पूरी जिल्द बंधवाई के दाम ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित			२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)			१।-)	१॥-)	२)	१॥≈)	३)	२।)	२)	२।)	॥)	२।)
काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	परिशिष्ट	मन्त्र सूची	पद सूची	योग
मूल्य	२≈)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)	२।≈)	३।)	७।)	।≡)	१-)		४३॥)

सब भाष्य परिशिष्ट और मन्त्र सूची सहित छप गया, पद सूची और छप रही हैं। जिसके छप जाने पर यह भाष्य सब प्रकार पूरा हो जावेगा। पुराने ग्राहक जिनके पास सब कांड नहीं पहुंचे और नये ग्राहक भाष्य शीघ्र मंगावें पुस्तक थोड़े रहे हैं, ऐसे बड़े ग्रन्थ का फिर छपना कठिन है,

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।-)

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।≈)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—कांगड़ी गुरुकुल में व्याख्यान दिया था। वेदों में विमान, नौका, अस्त्रशस्त्र निर्माण, व्यापार, ग्रहस्थ, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्य्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

१५ मई १९२१। ५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad)

॥ ओ३म् ॥

[सूचना—इस परिशिष्ट को अथर्ववेद भाष्य की मन्त्र सूची से पहिले लगा लीलिये ।]

निवेदन ॥

अथर्ववेद भाष्य काण्ड १६ के साथ विज्ञापन [ता० १५ दिसम्बर १६१६] द्वारा निवेदन किया गया था कि विद्वान् वेदपाठी महाशय यदि अथर्ववेद भाष्य में कोई त्रुटि देखें वा किसी प्रकार का सुधार उचित समझें, कृपा करके सूचित करें, विचार करके शुद्धि पत्र द्वारा उन महाशयों के नाम सहित वह ठीक कर दिया जावेगा ॥

इस विज्ञापन के अनुसार श्रीयुत परमहंस परिव्राजकाचार्य **श्री सत्य-प्रकाश** जी वैदिक यति स्थान जेवर ज़िला बुलन्दशहर [संयुक्त प्रान्त] ने अथर्ववेद भाष्य का संशोधन भेजा है, वह हार्दिक धन्यवाद सहित परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया जाता है कि विद्वान् जन उसे पढ़कर वेदों में अपनी विचार शक्ति बढ़ावें । प्रशंसित सन्यासी जी महाशय की बनाई हुई **ब्रह्म-बोधिनी सन्ध्या** नामक पुस्तक लगभग ३२५ प्रमाण युक्त वेद प्रेमी विद्वानों के लिये उपयोगी, पढ़ने और विचारने योग्य है । मूल्य ।), प्रशंसित महात्मा जी से मिलेगी ।

फाल्गुण कृष्णा १४, संवत् १६७७ विक्रमीय ।

क्षेमकरण दास त्रिवेदी,
५२ लूकरगंज, प्रयाग ।

अथर्ववेदभाष्ये परिशिष्टम् ॥

अथ० १।१।१) (ये) जो, (त्रिषप्ताः) [त्रि=ज्ञान कर्म उपासना तीनों, सप्ताः=गायत्री उष्णिक् बृहती अनुष्टुप् पङ्क्ति त्रिष्टुप् जगती सातों] तीन सप्त वा सात त्रिक अर्थात् वेद के तीनों काण्ड जिन में से प्रत्येक उपर्युक्त सातों छन्दों में विभक्त हैं, अथवा तीनों भाग जो [षप समवाये] सर्वत्र [सर्व पदार्थों से] सम्बद्ध हैं, (विश्वा) विश्वानि=सब (रूपाणि) दृष्ट वा निरूपित पदार्थों

अथवा (रुङ् गतिरेषणयोः) सर्व सत्य विद्याओं को, (बिभ्रतः) धारण करते [रखते] हुये, (परियन्ति) सब ओर [सर्वत्र] व्याप्त एवं प्राप्त हैं, (वाचस्पतिः) वेद वाणी का यथार्थ अधिपति [पूर्ण रक्षक] नित्य जगद्गुरु निभ्रान्त सर्वज्ञ परमात्मा, वा वेदज्ञ अध्यापक उपदेशक एवं वेद रक्षक विद्वान्, (तेषाम्) उन [ज्ञान कर्म उपासना] की, (बला) बलानि = शक्तियों [उनके जानने एवं उन पर चलने की शारीरिक मानसिक और आत्मिक सामर्थ्य और उस से उन के वास्तविक स्वरूप] को (अद्य) वर्तमान काल वा इस जन्म में (मे) मुझ उपासक के (तन्वः) तनौ = शरीरे [स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों शरीरों के समुदाय इस प्रत्यक्ष] शरीर एवं मुझ आत्मा में, (दधातु) धारण करे ।

भावार्थ—यहां उपदेश है कि हे मनुष्यो ! वेद की तीनों विद्यायें [सात छन्दों वाली] जगत् के सर्व धार्मिक [शारीरिक] कर्मों और मानसिक आत्मिक [वास्तविक] सूक्ष्म विचारों वा क्रियाओं एवं सर्व सत्य विद्याओं का आदि स्रोत वा मूलाधार हैं । संसार के कोई भी धार्मिक [वास्तविक सुखप्रद] कर्म बिना ज्ञान कर्म और उपासना के पूरे नहीं हो सकते, और न कोई सत्य विद्या जगत् में ऐसी है जिस का मूल वेद में न हो । इस लिये तुम लोक यथार्थ संसार और परमार्थ सुख अर्थात् उभयत्र उभय प्रकार के मोक्ष प्राप्ति के लिये वेदज्ञ विद्वान् से वेदाध्ययन करके, योगाभ्यास करते हुये साक्षात् जगदाचार्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से वेद तत्त्वार्थ एवं तत्त्वस्वरूप अनुभूत [प्राप्त] करने जानने को परम पुरुषार्थ करो ।

अङ्क—(त्रिसप्ताः) का अर्थ करते सर्व जगत् सम्बन्ध, ३ गुणों [सत्त्व रज तम], ३ कालों, ३ लोकों, ३ विद्याओं, ३ अवस्थाओं [सुषुप्ति स्वप्न जागृति], ३ देहों, ३ धामों [कार्य कारण और उभयासहृश ब्रह्म] अथवा दैहिक भौतिक और आत्मिक तीनों गुणों, के ये सात त्रिक माने जा सकते हैं, उन का सम्बन्ध भी सर्व जगत् से है, परन्तु (वाचस्पति) से प्रार्थना पूर्वोक्त तीनों सत्त्वादि अथवा उत्तरोक्त सातों त्रिक [विद्या शून्य के लिये] युक्त नहीं हैं ।

(अथ० १ । १३ । १) हे जगदीश्वर ! (ते) आप की (विद्युते) विद्युताय, बिजुली के लिये (नमोऽस्तु) स्वरक्षा रूप सत्क्रिया हो, वा वज्र हो । (ते) आप के (स्तनयित्नवे) गरजते हुये बादल के लिये, (नमोअस्तु) युक्त कर्म हो, (ते अश्मने) आप के पाषाण [ओलों] के लिये, (नमोऽस्तु) समुचित

व्यवहार हो, (येन=यैः) जिन के द्वारा (दूडाशे=दूडाशम्) दुष्कर्मी मनुष्य को (अश्नाति) नष्ट करता वा ताड़ता है।

भाव—परमेश्वर दुष्ट अधर्मियों को घोर आधिदैविक दंड रूप दुःख देता है अतः मनुष्य धर्मानुगामी हों। तथा बिजुली से बचने के अनेक साधन सम्पन्न हों, घरों में लोहे के छड़ आदि लगावें, और बादल एवं पत्थरों से बचने लिये अवन, छत्र आदि नाना पदार्थ बना कर प्रयुक्त करें॥

(अथ० १। ३०। ३) अन्तरिक्ष=अन्तः—ईक्ष=आत्मनि—ईक्ष्यते यः—"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो—(अन्तर्यामी ब्रा० बृ० आ०)—"तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति"—कठ, "तस्मिन् हिरण्यये कोशे ...... यद्यक्षम आत्मन्वत्" —अथ० १०। २। ३२।

(अथ० २। ३१। १) क्रिमि=फैलने वाले रोग वा दोष।

(अथ० २। ३२। १) शर्षि=शरीरे=शरीर में वा नेत्र में, (क्रिमयः) रोग वा शक्तियां।

भाव—जहां इस मन्त्र में प्रातः भ्रमण का विधान है, वहां उदय अस्त होते हुये सूर्य को अनुचित देखने का निषेध भी है, कुतः नेत्र ज्योति का ह्रास होता है।

(अथ० २। ३२। ४) (हतमाता) क्षमाहीन, (हतभ्राता) संयमहीन, (हतस्वसा) दयाहीन। "धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी ......दया च भगिनी भ्राता मनःसंयमः" (क्रिमीणाम्) आक्रमण करने वालों का।

भावार्थ—जिस आक्रमी में क्षमा, दया, धैर्य और संयम न हो उस का राजा, वह एवं अन्यान्य मारा जावे।

(अथ० २। ३२। ५) (अस्य) चढ़ाई करनेवाले के (क्षुल्लका इव) तुच्छ, चाटुकार, (क्रिमयः) चढ़ाई करने वाले।

(अथ० २। ३२। ६) (शृङ्ग) दांत। भाव—दुष्ट वृषभ अपने सींगों से, वा दुष्ट सर्प अपने दांतों से।

(अथ० २। ३३। ५) (ऊरुभ्याम्) कुक्षीभ्याम्=दोनों कोखों से।

(अथ० ३। १। ४) (हरिभ्याम्) अग्नि और वायु से, ग्राहक होने से अग्नि और व्यापक होने से वायु।

(अथ० ३। १। ५) (भ्राज्या) आग्नेय एवं वायवीय वाणों से वा वाणों से।

(अथ० ३ । ३ । ३) (श्येनो भूत्वा आपत=)सर्व व्यापक होकर प्राप्त हो ।

(अथ० ३ । ३ । ४) (श्येनः) सर्वव्यापक परमेश्वर (इमम्) इस [जीव] को (परस्मात्) सर्वोत्तम से (अन्यक्षेत्रे) भिन्न, अवर शरीर में (अपरुद्धम्) भोगाधीन निरुद्ध वा रुका हुआ (चरन्तम्) भोगते हुये [को] (हव्यम् आनयतु) देय पदार्थ प्राप्त करावे वा आह्वनीय [जीव] को अपनी ओर लावे । (अस्य) इस के (पन्थानम्) योग मार्ग को (अश्विनौ) प्राणापान (सुगम् कृणुताम्) सुलभ करें [हे अत्यन्तोपास्य पितः] (ते) आप के (सजाताः) समान चेतन-नित्य होने से साथी [आप को] (अभि-संविशध्वम्) सब ओर से प्राप्त हों । [योग में कहा है—ईश्वरप्रणिधा-नाद्वा, प्राणायामाद्वा]

(अथ० ३ । ३ । ५) (प्रतिजनाः) = नास्तिकमनुष्याः, (मित्राः) = आस्तिकाः, (अवृषत = वृषेत) दर्शन करें, (अदीधरन्) = धारण करें ।

(अथ० ३ । ४ । ७) (दशमी) दशवीं इन्द्रिय [उपस्थ = मूत्रेन्द्रिय] को, (इह) = इस शरीर में

(अथ० ३ । ५ । ५ ।) (आ अरुक्षत् = आरोहते) सब ओर [सृष्टिद्वारा] प्रकट होता है—"कार्यात् कारणानुमानः"

(अथ० ३ । ६ । ६) (वानस्पत्यान्) = चाटुकारी राजनाशकों, (आरोहन्) = दबाकर, चढ़ाई करके ।

(अथ० ३ । १० । २, ३, ४) (संवत्सरस्य) कालस्य = काल की, (प्रतिमा) नापने वारी, (पत्नी) रक्षिका प्रकृति, प्रकृति काल को नापती है परमेश्वर को नहीं ।

(अथ० ३ । १८ । १) (खनामि) = अत्यन्त यत्न वा समाधि से प्राप्त करता हूं ।

(अथ० ३ । १९ । ३) (ब्रह्मणा) = ब्रह्मास्त्र से ।

(अथ० ४ । १ । ६) सोता हुआ सा = निष्क्रिय सा—जिन लोकों को रच दिया उनकी अपेक्षा सोता सा कहा है । अन्यथा वह सदैव कोई न कोई लोक रचता रहता है, क्योंकि महा लघु एवं अवान्तर तीन प्रलयें होती हैं [देखो—४ ब्रह्म बोधिनी वैदिक सन्ध्या]

(अथ० ४ । २ । २) (प्राणतः) श्वास लेते हुये ज्ञानवान् मनुष्यादि

जङ्गम, (निमिषतः) बाह्य ज्ञान हीन सुषुप्तिस्थ [गाढ़ी निद्रा में यावत् स्थूल शरीर सोते हुये] वृक्षादि स्थावर ।

(अथ० ४ । २ । ६, ८) (आपः) व्यापक द्रव पदार्थों [परमाणुओं] से, [तन्मात्रा अहङ्कार का कार्य होने से नित्य वा सृष्टि के पूर्व नहीं होने— सां० १ । ६१ देखो]

(अथ० ४ । ५ । २) (सर्वाः स्त्रियः) सब इन्द्रियां, (शुनः) अन्तःकरणों (मन आदि) को ।

(अथ० ४ । १० । ६) (रथे) जगति=जगत् में,

(अथ० ४ । १६ । ५) (जनानाम्) प्राणियों के—कुतो यदि परमेश्वर प्राणी मात्र के कर्म वा क्रियाओं को एवं उन के भोग मात्र को न गिन सकेगा तो वह व्यवस्थापक एवं ईश्वर भी सर्व प्राणियों का नहीं बन सकता ।

(अथ० ४ । १६ । ६) (असत्) अविदित= न जाने हुये, भू सत्तायां— मिन् भूमिः=प्रकृति, भूम्याः प्रकृत्या वा भूमेः=प्रकृतेः=प्रकृति से ।

(अथ० ४ । ३० । ४) (मया) मेरे साथ मुझे समर्थ करता हुआ, (विपश्यति) मन [इन्द्रिय] से देखता है,(प्राणति) जीवन सफल करता है ।

(अथ० ४ । ३० । ५) (ब्रह्मद्विषे) वेद निन्दक के लिये (धनुः) रोग (आतनोमि) फैलाता हूं ।

(अथ० ४ । ३० । ७) (योनिः) संयोजन व्योजन शक्ति ।

(अथ० ४ । ३१ । १, २, ३, ४, ५, ६, ७) तथा (अथ० ४ । ३२ । १, २, ३, ४, ५, ६,) (मन्यो मन्यु) राजस बल=शासन शक्ति, प्रताप वा ज्ञान युक्त [राजस] क्रोध । ईश्वर में तामस क्रोध का सर्वथा अभाव है, कुतः तमोगुण उत्तम मनुष्य के लिये भी दूषण है,फिर जगदीश्वर में तम [अन्धकार] कहां ॥

(अथ० ५ । १ । १) (यः)जो (ऋधङ्मन्त्रः) वृद्धिशील वा सत्य ज्ञान वाला, (अमृतासुः) निरालस्य वा नित्य क्रिया शील प्राण वाला (वर्धमानः) बढ़ता हुआ अर्थात् उन्नति शील (सुजन्मा) [मनुष्य शरीर पाने से] अच्छी प्रसिद्धि वाला (योनिम्) गर्भाशय को (आबभूव=आभवति) अच्छे प्रकार [बिना क्लेश के] प्राप्त होता है । उस) (अदब्धासुः) अचूक वा त्रुटि हीन उत्तम बुद्धि वाले (अहा इव अह्ना इव) दिन के तुल्य (भ्राजमानः) प्रकाशमान वा ज्ञान वान् (धर्ता) सब योनियों के धारण करने वाले (त्रितः) [आत्म] रक्षा—वा [ईश्वर] आज्ञा पालन—करने वाले, वा सब [बद्ध जीवों] से बड़े

वा जन्म नाम स्थानों को प्राप्त करने और तीनों से तरने वारे वा तीनों लोकों में जाने वाले, वा तीनों कालों में फैलने=रहने वारे वा तृतीय धाम नाम [कार्य कारण वा जीव प्रकृति से विलक्षण] ब्रह्म मात्र को प्राप्त करने हारे वा स्थूल सूक्ष्म एवं कारण तीनों देहों से [मुक्ति में] पार होने हारे वा ज्ञान कर्म उपासना त्रयी विद्या प्राप्त करने हारे [मुक्त पुनरावर्त्त] जीवात्मा ने (त्रीणि) तीनों [धामों अर्थात् जन्म नाम स्थान-वा कारण सूक्ष्म और स्थूल देहों तथा तीनों विद्याओं] को (दाधार) धारित किया है वा करता है। "इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः । ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते' कठ० ६।४। त्रैङ् पालने यद्वा तॄ प्लवनतरणयोः—इतिन्, यद्वा त्रि+तनु विस्तारे—ड, त्राता पालयिता तीर्णो विस्तीर्णः—देखो भाष्य।

भावार्थ—जीवात्मा आत्म [अपनी] शक्तियों को विचारें जिस से सांसारिक और मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकें—कर्मानुसार ही जीवात्मा सब योनियों एवं सब लोकों में जाता है, तीनों कालों में रहता है। कर्म की स्वतन्त्रता से आत्मरक्षक और भोग की परतन्त्रता से ईश्वर आज्ञा पालक है, मुक्त अवस्था में बद्ध जीवों से ज्येष्ठ, मुक्ति से लौटने पर जन्म नाम स्थान वा कारण सूक्ष्म और स्थूल तीनों देहों का धारण करने वाला, मुक्ति में तीनों से पृथक् वा पार हो जाने वाला और परमात्मदेश में रहने वाला है। मुक्ति से लौटने पर सर्गारम्भ में कर्म योनि पाने और पृथिवी माता से उत्पन्न होने से सुजन्मा वा अक्लिष्ट मनुष्य शरीर पाने वाला और साक्षात् ब्रह्म से त्रयी विद्या प्राप्त करने से अचूक बुद्धि वाला वा पूर्ण ज्ञानी कहा जाता है।

(अथ० ५।१।२) (यः) जो (प्रथमः) [मनुष्य शरीरस्थ होने से] प्रख्यात वा प्रधान जीव, (धर्माणि) धारण योग्य धर्मों वा ईश्वर व्यवस्थाओं को (आ) कर्मानुसार (ससाद=सीदति) प्राप्त करता है (ततः) उस प्राप्ति कर्म से वा उन व्यवस्थाओं से वह (पुरूणि) अनेक (वपूंषि) रूपों वा योनियों एवं शरीरों को (कृणुषे=कृणुते) प्राप्त वा धारित करता है। वही (प्रथमः) [पूर्व भोग हीन कर्म शरीर पाने वाला होने से, भोग—वा उभय—योनिस्थ जीवों में] प्रधान (धास्युः) [देह]धारण करने की इच्छा वाला जीव (योनिम्) कारण और सूक्ष्म देहों एवं पृथिवी के गर्भाशय में (आ) बिना क्लेश के (विवेश=विशति) प्रवेश करता है। (यः) जो मुक्त पुनरावर्त्त जीव (अनुदिताम्) अलौकिक वा लोक अप्रचलित वा अप्रकट (वाचम्) वेद वाणी को

(आ) साक्षात् आत्मस्थ ईश्वर से (चिकेत = चिकेति) जानता है। छन्दसि व्यत्ययो बहुलम् ॥

भावार्थ—मुक्ति से लौट कर जीवात्मा ईश्वर नियम से सृष्ट्यारम्भ में कर्म देह पृथिवी माता के उदर में बिना गर्भ दुःख के पाता है। उस के पश्चात् कर्मानुसार नाना योनियां धारित करता है। सम्यक् [पूरा] ज्ञान होजाने पर मुक्त हो जाता है। मुक्ति से लौट कर कारण और सूक्ष्म शरीरों को प्राप्त करके स्थूल देह प्राप्त करता हुआ वेद को प्राप्त करता है॥

(अथ० ५ । २ । ३) (स्वादुना) मुमुक्षुना = मुमुक्षु के संग (मधुना) परमार्थ ज्ञान से (योधीः) मिलाया है।

(अथ० ५ । ४ । ३) (देवसदनः) मुक्तों के प्राप्ति योग्य, (अश्वत्थः) अत्यन्त पुरुषार्थियों के ठहरने का देश, (देवाः) मुमुक्षुओं ने, सर्व हितैषी = मुक्त।

(अथ०५ । १६ । १—५) (एकवृषः) एक वेद वा आत्मिक बल (द्विवृषः) दो वेद वा आत्मिक और शारीरिक बल, (त्रिवृषः) तीन वेद वा आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल, (चतुर्वृषः) चार वेद वा आत्मिक शारीरिक सामाजिक और धनबल (पञ्चवृषः) आत्मिक, शारीरिक, सामाजिक, धनबल और सेनाबल ॥

(अथ० ५ । १७ । ६) (पूर्वे) पहले उत्पन्न हुए, [यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः—अ० १० । ७ । १४] (सप्तऋषयः) = अपने से सम्बन्ध [परमाचार्य परमेश्वर] को साक्षात् देखने एवं परमेश्वर से साक्षात् समवेत वेद पढ़ने वाले, अथवा [गायत्र्यादि मुख्य] सात छन्दों वाले [वेद] को साक्षात् करने वाले महर्षि लोक, (तपसा) बिना इन्द्रियों के भोग के, (निषेदुः) [पृथिवी माता के उदर अवकाश में] बैठे थे, [देखो—इमेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे। एना मे ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे ॥ अथ० ६ । १७ । १] (जाया) प्रसिद्धि का द्वार, (व्योमन्) वि—ओमनि = विशेष अर्थात् उभय संसार और मोक्ष सुख प्राप्त कराने हारे जगदीश्वर के नियम में, वा संसार परमार्थ सुख दोनों के स्थान में, (दुर्धाम्) दुःखदायी दुष्ट रूप को, (दधाति) धारित कर लेती है।

भावार्थ—सृष्ट्यारम्भ में (देवाः) मुक्त पुनरावर्त्त सब से श्रेष्ठ कर्मयोनि पाने वाले जीवात्माओं ने [जिन के शरीर पृथिवी गर्भस्थ होने से] पार्थिव रस द्वारा पलते रहने से जो लौकिक विषयों से विरत थे] साक्षात् ईश्वर से वेद प्राप्त करके अन्यों को ईश्वर उपदेश सुनाया कि ब्रह्म विद्या का निरादर

करने से घोर दुःख होते हैं, अतएव सब को वेद का परम आदर करना चाहिये।

(अ० ५ । १७ । ७) (जगत्) चलते फिरते मनुष्यादि प्राणियों का समूह (अपलुप्यते) [पशु समान अपितु इससे भी दुष्टतर कर्म करने से] दुर्दशा को प्राप्त होकर विनष्ट हो जाता है। और (ये) जो, (वीराः) शूर्मा लोक शत्रुओं को नष्ट कर स्वदेश की रक्षा, एवं राज्य वृद्धि करने हारे, [ईर्ष्या द्वेषादि में फंस कर] (मिथः) परस्पर एक दूसरे से, (तृह्यन्ते) लड़ कर कट मरते हैं।

भाव—मनुष्यों के वेद न जानने से यज्ञ हवन नहीं हो सकते, यज्ञों के न होने से आकाश आदि पंच भूत प्राणियों के मलों से दूषित होकर रोगों के साधन दुष्ट अन्नादि पदार्थ, एवं स्वयं भी रोग उत्पत्ति का कारण बनते हैं, और उत्तम सुखदायी अन्न तथा घास आदि पदार्थ नहीं उपजते। इस कारण सब प्राणी दुःखित होते एवं अनिष्ट मृत्यु पाते हैं।

(अथ० ५ । १७ । ८) (उत) वितर्के, क्या, (पूर्वे) अगुवा वा सर्गारम्भ में उत्पन्न हुये, (दश) पूरण संख्या वारे=गिनती भर=समस्त, (अब्राह्मणाः) वेद पढ़े देश एवं जाति रक्षक क्षत्रिय लोक, वेद जानने वारे धन धान्य वर्धक, शिल्पकार तथा पशु आदि पालने वाले वैश्य लोक अथवा मूर्ख वा शूद्र लोक (स्त्रियाः) शब्द रूपा वेद विद्या के, (यत्पतयः) [पतित्वाय यतमानाः] पति होने का विद्या भिन्न यत्न करते हुये, वा लिप्सा मात्र रखते हुये रक्षक हो सकते हैं ? (च) अथवा, (ब्रह्मा) उपदेश से वेद प्रचार बढ़ाने वाले ब्राह्मण ने, (इत्) ही, (हस्तमग्रहीत्) सुदृढ़ प्रतिज्ञा से विधिवत् रक्षा करना अङ्गीकृत किया है, (स एव) वह ही, (एकधा) एक मात्र, (पतिः) यथार्थ रक्षक है ?

भावार्थ—इस मन्त्र में प्रश्न है कि क्या वेदज्ञ क्षत्रिय वैश्य स्व २ कर्म करने वारे अथवा मूर्ख समुदाय मात्र वेद रक्षा कर सकता है और उन ही सब की दी हुई व्यवस्था मान्या हो सकती है, अथवा वेद तत्त्वज्ञ वेद उपदेशक एवं अध्यापक ब्राह्मण [गृहस्थ वा संन्यासी] हो वेद रक्षक और धर्म व्यवस्थापक भी हो सकता है ? देखो—"एकोपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः। स विज्ञेयः परमो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ मनु० १२ । ११३

अङ्क—गिनती के अङ्क केवल १ से ६+० [१०] तक हैं अर्थात् १ से १० तक वृद्धि होती है, पुनः ये ही अङ्क मिला २ कर कार्यवाही की जाती है। अतः दश का अर्थ संख्यान्त वा समस्त करना अयुक्त नहीं है।

(अ० ५ । १७ । ६) (ब्राह्मण एव) वेद वेत्ता ब्राह्मण ही (पतिः) व्याख्यान उपदेश द्वारा रक्षक है, (न राजन्यः) न [भुज बल मात्र से] क्षत्रिय, और (न) न (वैश्यः) कृषि वणिज, व्यापार, शिल्प, कलाकार और पशु पालने वाला तीसरा द्विजन्मा वैश्य [धन धान्य आदि मात्र के द्वारा] (पतिः) रक्षक हो सकता है, (तत्) यह (सूर्यः) उत्तमता से अर्थात् साक्षात् रूप से आत्मा में स्थित होकर प्रेरणा एवं वेद प्रकाश करने हारा अन्तर्यामी परमेश्वर, (पञ्च) मुख्य [सृष्टि आरम्भ में जन्मे] (मानवेभ्यः) मननशील [साक्षात् ईश्वर से पढ़ने वारे] महर्षियों से, (प्रब्रुवन्) कहता हुआ (एति) चलता [आगे उपदेश करता] है।

भावार्थ—सदा की भांति वर्त्तमान जगत् के आरम्भ काल में ईश्वर ने उपदेश किया है कि वेद का प्रचार सप्रेम सत्यता से पढ़ा, सुना और समझा कर करना चाहिये, बलात्कार से दबा वा डरा कर अथवा लोभ देकर नहीं करना चाहिये, ऐसे प्रचार का परिणाम विपरीत वा आशाविरुद्ध और धर्म-घातक होता है।

(अथ० ५ । १७ । १०) (पुनर्वै) तदनुसार ही, (सत्यं ग्रह्णानाः) सत्य स्वरूप ब्रह्म को मानते हुये=श्रद्धा से स्वीकृत करते हुये=आस्तिक (देवाः) आप्त वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मणों वा संयासियों ने, (ब्रह्मजायाम्) वेद विद्या के प्रचार के लिये; (अदुः) आत्म समर्पण किया, (पुनः) फिर वा उस के पीछे, (सत्यं गृह्णानाः) आस्तिक [ईश्वर+मोक्ष+आवागमन+आत्म विश्वासी] (राजानः) क्षत्रियों ने, (ददुः) बल वा रक्षा शक्ति प्रदान की, (पुनः) आगे ऐसे ही [उसी विद्या के प्रचारार्थ] (सत्यं ग्रह्णानाः) ऊपर कहे हुये परोक्षपदार्थों के मानने वारे (मनुष्याः) तीसरे वर्ण शिल्प वाणिज्यादि का मनन करने वाले द्विज लोकों ने (ददुः) धन धान्य पशु आदि भेंट किये।

भावार्थ—पूर्व मन्त्रोक्त ईश्वर उपदेश के अनुकूल ही ब्राह्मणों ने उपदेश द्वारा वेद का प्रचार किया, क्षत्रियों ने प्रचार बाधकों को राज दण्ड देकर प्रचार में सहायता की, वैश्यों ने धन धान्य आदि द्वारा सहयोग किया, और इस प्रकार वेद विद्या प्रकाशिता होकर सब के सुख का हेतु वा साधन बनी॥

संगति—मन्त्र ६ में उपदेश है कि वेद विद्या के तिरस्कार से विपत्ति पड़ती है, मं० ७ में विपत्ति स्वरूप दिग् दर्शित किया है, म० ८ और ९ में वेद जानने

वारे को वेद रक्षक और व्यवस्थापक बताया है, इतरों को इसके विपरीत माना है, म० १० में म० ८+६ के अनुसार ही वेद तत्त्वज्ञ से वेद प्रचार और अन्य क्षत्रियादि से यथायोग्य सहायता पहुंचना निश्चित किया है, म० ११ में उक्त प्रचार से ऐहिक [संसार] सुख, आमुष्मिक [परमार्थ] सुख की प्राप्ति का उपदेश है ॥

(अथ० ६ । १२ । २) (यत्) जो [ज्ञान] (ऋषिभिः) ऋषियों ने [साक्षात् ब्रह्म से] (यत्) जो [वेद] (ब्रह्मभिः) [वेद जानने को समर्थ] अन्य ब्राह्मणों ने (देवैः) विजिगीषु [विजयच्छुक] क्षत्रियों एवं व्यवहार [लेन देन आदि] कुशल वैश्यों ने [उन ऋषियों से] (यत्) जिस [त्रयी विद्या] को (पुरा) सृष्टि के आरम्भ में (विदितम्) जाना था, (विषम्) [विषयों के राग रूपी] विष को ।

भावार्थ—वेद सृष्ट्यारम्भ में ४ ऋषियों को ईश्वर से और उन से अन्य ब्राह्मणादि को मिलकर निख रहता है । उसी को जान कर मनुष्य अपने दोषों को दूर करें ॥

(अथ० ६ । १२ । ३) भावार्थ—ईश्वर उपदेश है कि हे मनुष्य यदि तेरे मुंह में शान्ति एवं तेरे हृदय [मन] में शान्ति [समता] हो तो नदी पहाड़ वस्ती वा जङ्गल सब सुख दायी हो जावें ।

(अथ० ६ । १६ । १) (आबयो) हे सर्वव्यापक, (अनाबयो) सर्वतो अव्याप्त वा सर्वजनक स्वयम्भू , (आबयो) सर्वतः कान्तिमान् ईश्वर, (ते) तेरा = आप का, (रसः उग्रः) आनन्द स्वरूप है, (ते करम्भमद्यसि) तेरे दिये हुये अन्नादि को खाता हूं ।

(अथ० ६ । १६ । ४) (अल''''''साला) अन्धेरे पदार्थों को प्रकाशित वा अभूषितों को [अज्ञानियों को] भूषित [ज्ञानी] वा आलसियों को समर्थ करने वाली प्रधान शक्ति है । परमाणु परमाणु को प्रकट करने वाली और सर्व ब्रह्माण्डों में निरन्तर व्यापिका होकर सब के सब ओर बाहर उतरी हुई अनन्ता है ।

(अथर ६ । १७ । १) (भूतानाम्) प्राणियों का—पृथिवी स्वयं ५ भूतों के गर्भ में रहकर उन से बनती है । उसे ५ महाभूतों की गर्भधारिका कहना अरोचक है । भाव यह है कि जैसे अमैथुनी सृष्टि पृथिवी के गर्भ से हुई, ऐसे तू है स्त्रि गर्भ धारण करके प्रजा उत्पन्न कर ॥

(अथ० ६ । ६३ । १) (निर्ऋतिः) अविद्या, (आयुषे) मुक्त जीवन के लिये, (वर्चसे) आत्म प्रकाश के लिये, (बलाय) आत्म बल के लिये, (अन्नम्) मोक्षानन्द को।

(अथ० ६ । ६३ । २) (नमः) वज्र=तिरस्कार, (अयस्मयान्) लोह रूप मोह कृत। (नमः) नमस्कार=उपासना।

(अथ० ६ । १३८ । २०) (आण्ड्यौ)=पथरी।

(अथ० ७ । ४ । १) भावार्थ—महाभूत=सूक्ष्म भूत। २२ योजनार्थ=१० इन्द्रिय+५ प्राण+४ अन्तःकरण [मन बुद्धि, चित्त, अहङ्कार]+कारण शरीर+स्थूल शरीर+१ जीव।

(अथ० ७ । २६ । ७) (सूरयः) विद्वान् योगी लोक।

(अथ० ७ । २८ । १) (द्रुघणः) उन्नति घातक, (वेदिः) रण भूमेः (परशुः) शत्रुघात, परशुः=पर वज्र ॥

(अथ० ७ । १११ । १) (देवानाम्) सत्य भाषियों का, (मनुष्याणाम्) सत्यासत्य मिश्रित भाषियों का।

(अथ० ८ । १ । ६) (यमस्य) नियन्तुः परमेश्वरस्य=नियामक परमेश्वर के।

(अथ० ८ । ३ । १६) (विषम्) दुग्ध=रस

(अथ० ८ । ६ । ३) (ऊरू) कोखें—ऊर्णु आच्छादने इस धातु से उदरस्थ यन्त्र की ढकने वाली कुक्षी।

(अथ० ८ । ७ । १५) (पुरुषाणाम् गवाम्) पुरुषों की इन्द्रियों का।

(अथ० ८ । ६ । १८) [इन्द्रियां......बुद्धि] बुद्धि=चित्त स्मृति कारण होने से विषय ग्राहक है बुद्धि नहीं।

(अथ० ८ । ६ । २०) महाभूत=सूक्ष्म भूत, द्यौः वा प्रकाश=जल-[सत्यार्थ प्रकाश पृ० २४२ एकादश संस्करण देखो]

(अथ० ८ । १० (२) । ६) (बृहत्) सब से बड़ा ऋग्वेद, (रथन्तरम्) संसार के रम्य पदार्थों से तारने वाला सामवेद, (यज्ञायज्ञियम्) सर्व यज्ञ हितकर वा उपयोगी यजुर्वेद, (वामदेव्यम्) वामदेव परमेश्वर से प्रकाशित अथर्ववेद।

भावार्थ—(आकाश······प० भूत)=४ वेद।

(अथ० ८ । १० (२) । ७) (देवाः) विद्वान् ऋषियों ने, (रथन्तरेण*) रम्य संसार से पार करने वाली बुद्धि से, (बृहता) ब्रह्माण्ड से, (आपः) चित्त अहङ्कार, बुद्धि आदि को ।

(अथ० ६ । १ । ११, १२, १३, १६) (मे आत्मनि) मुझ आत्मा में । मेरे आत्मा ऐसा कहना असंगत है क्योंकि उसका अन्तर्यामी ईश्वर होता है । अतः वक्ता आत्मा वा मुक्त आत्मा में कहना चाहिये ।

(अथ० ६ । १ । १८) (पर्वतेषु) मुमुक्षुवों में, (गोषु) गोपालक वैश्यों में, (अश्वेषु) अश्ववार क्षत्रियों में ।

(अथ० ६ । ४ । १०) (ते आत्मा) तू आत्मा, (ते ··· आभृतः)= तुझे आत्मिक बल दिया है ।

अथ० ६ । ४ । ११) (ऋषभस्य) सर्वशिक्षक विद्वान् के ।

(अथ० ६ । ४ । १२) (अनुमत्याः पार्श्वे) बुद्धि की दो पसुली, (भगस्य अनुवृजौ) ऐश्वर्य की दो कोखें, (अष्ठीवन्तौ मित्रः) दोनों जानु भाग मित्रता को, भाव यह है कि बुद्धि दोनों निचली कोखें [पसलियें] की अनुकूलता के समान, ईश्वर अनुकूल हैं, दोनों कोखों की ऐश्वर्य के तुल्य ऐश्वर्य और दोनों घुटनों की मैत्री की न्याई सर्वशिक्षक विद्वान् में मित्रता स्वाभाविक है ।

(अथ० ६ । ४ । १३) (भसत्) दीप्तिः, (श्रोणी) गत्या, गति शोधन का साधन,

(अथ० ६ । ५ । २७) (अपरम्) नियोजितं पतिम् (अन्यम्) विवाहितं पतिम् कुतोऽस्मिन् मन्त्रे "न" अक्षरं विशेषतः पठितमस्ति यदपार्थक्य-साधकं वास्ति न तु नियोगे विहितैवं समुचितपार्थक्यसाधकमस्ति । द्वितीये मन्त्रे पुनर्भवा पतेः पूर्वविवाहितपतिना सह समानलोकता उपदिष्टा भविति तदपि नियुक्तपतिना सह न युज्यते किन्तु सर्वथा वियुज्यते । अपरम् का अर्थ नियुक्त नहीं हो सकता किञ्च यह प्रकरण पुनर्भू वा पुनर्विवाह का है नियोग का नहीं ।

अथ० ६ । ६ (३) ७) (अतिथिः) नित्य बेरोक आने का अधिकारी यति, (श्रोत्रियः) वेद के गूढ़ मर्मों वा सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञाता ।

(अथ० ६ । ६ । १) (अस्य) इस (वामस्य) ग्रहणीय (पलितस्य) रचित जगत् का (होतः) [जीवों के भोगार्थ] देने वाला परमेश्वर सच्चिदानन्द है । (तस्य) उस का (मध्यमः) बीच का (भ्राता) सहकारी वा जगत्

रचने का कारण [सत्—चित्] जीतात्मा (अश्नः) भोक्ता (अस्ति) है, (अस्य) उस परमेश्वर का (तृतीयः) तीसरा [छोटा=सत् प्रकृति (भ्राता) सहयोगी [उपादान कारण—परमाणु समूह] (घृतपृष्ठः) आकाश स्वरूप ब्रह्म से व्याप्त है । (अत्र) इस प्राकृत] (कारण एवं कार्य) जगत् में (अपश्यम्)= वयं पश्यामः । हम देखते हैं (विश्पतिम्) प्रजाओं के पालक (सप्तपुत्रम्) सर्व व्याप्त जगत् के शोधक जगदीश्वर को ।

भावार्थ—सर्व जगत् तीन प्रकार के पदार्थों का समुदाय है । एक जड़ [ज्ञान हीन] प्रकृति [सत्त्व रज तम तीन प्रकार के परमाणु एक कारण, नाम धारी],जिस से रचे पदार्थों को भोगने वारे दूसरे जीवात्मा अल्पज्ञ हैं और तीसरा जगदीश्वर सर्वव्यापक अनन्त सर्वज्ञ सृष्टिकर्त्ता आप्तकाम [अभोक्ता] अपने सम्बन्ध [व्याप्त] जगत् के पदार्थों का रक्षक एवं संशोधक [शुद्ध करने वाला] और कर्माध्यक्ष है ।

(अथ० ६ । ६ । २) (अश्वः) अश्व रूप गमन शील जीवात्मा । यहां यास्कीय अर्थ [सूर्य के एक देशी सर्वत्र न जानने वाला और ऋतुवों के ६ होने से] युक्त नहीं हैं ।

(अथ० ६ । ६ । ४) (अनस्था) बिना शरीर वाला अर्थात् निराकार जीवात्मा । कुतः प्रकृति निराकार नहीं है । निराकार प्रकृति से साकार जगत् नहीं बन सकता "कारणगुणपूर्वकाः कार्यगुणा दृष्टाः" ।

भावार्थ—जीवात्मा एकदेशी और अणु स्वरूप है और संयोजक वियोजक विभू स्वरूप परमात्मा है, प्रकृति संयोज्य वियोज्य है । जड़ [ज्ञान हीन] में स्वतन्त्रता वा संयोजकता आदि नहीं घटते ।

(अथ० ६ । ६ । ८) (ऋते) क्रिया वती प्रकृति में वा द्रव महत्तत्त्व [ब्रह्माण्ड] में, अर्थात् प्रकृति द्रव [बहता] पदार्थ होता है, इसी लिये उसे अप आदि नाम दिये जाते हैं । जल पर्यन्त सर्व प्राकृत कार्य भी कारण गुण पूर्वक द्रव ही होते हैं ।

जल=व्याप्त प्रकृति को ब्रह्माण्ड रूप में उत्पन्न किया [रचा वा प्रकट किया—देखो भावार्थ "शन्नो देवी" मंत्र का ब्रह्म बोधिनी सन्ध्या में]

आदि कारण=ईश्वर निमित्त कारण है, प्रकृति [जगत् का आदि] उपादान कारण है । जड़ जगत् का आदि उपादान कारण चेतन ब्रह्म नहीं हो

सकता । [देखो "अस्य वामस्य" उपर्युक्त अर्थ एवं मन्त्र "द्वा सुपर्णा" और "त्रयाः सुपर्णा उपरस्य" आदि ।

(अथ० ६ । ६ । २१) (सुपर्णाः) विद्वान् योगी लोक, (निविशन्ते) स्वरूप प्रतिष्ठित होकर अन्तर दृष्टि करते हैं । (सुवते) असंप्रज्ञात समाधि के पश्चात् उठते हैं ।

(अथ० ६ । १० । १२) (पिता) गर्भस्थापक वा गर्भदाता (माता) शरीर बनाने में सहायिका ।

(अथ० ६ । १० । १७) [पृथिवी जल तेज वायु आकाश के परमाणु] शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध के कण वा दाने, कुतः शब्दादि पूर्व हैं ।

(अथ० १० । १ । ३) (शूद्रकृता) शूद्र से की हुई, (राजकृता) क्षत्रिय से की हुई, (स्त्रीकृता) स्त्रियों से की हुई (ब्रह्मभिः कृता) ब्राह्मणों से की हुई वा वैश्यों से की हुई [हिंसाक्रिया] (कर्तारम्) हिंसक पुरुष को, (बन्धु) स्नेही वा बान्धने वारे के समान (ऋच्छतु) प्राप्त हो वा चली जावे (इव) जैसे (पत्या) पति करके [वा पत्नी से] (नुत्ता) अनुज्ञाता=आज्ञा दी गई वा निकाली हुई [वा अनुज्ञात अथवा निकाला हुआ] (जाया) पत्नी [वा पति] ।

भावार्थ—चारों वर्णों के किसी पुरुष वा स्त्री ने जैसा पाप वा अधर्म किया हो उसे वैसा दण्ड दिया जावे जैसे दुष्टा स्त्री को पति और दुष्ट पति को स्त्री बन्धन में डलवाता वा डलवाती है, अथवा जैसे अयोग्य पुरुष [पति] अपनी पत्नी को उसके स्नेही के पार्श्व भेज देता है एवं अयोग्या पत्नी अपने पति को उसकी स्नेहिनी स्त्री से नियुक्त कर देती है ।

(अथ० १० । २ । ७) (वरीवर्ति) निरन्तर उपस्थित वा व्यापक है ।

(अथ० १० । २ । १३) (प्राण) बाहर जाने वाला परिश्वास, (अपान) आने वाला श्वास, इति महर्षि दयानन्द मतम् एवं (अथ० ६ । १० । १६) ।

(अथ० १० । २ । ३१) (अष्टा चक्रा) आठ विद्युत् चक्र नाभि, हृदय, कण्ठ, चिबुक, जिह्वाग्र, नासिकाग्र, त्रिवेणी [त्रिकुटी वा भ्रू मध्य] और रन्ध्र-स्थान [ब्रह्माण्ड वा ब्रह्म रन्ध्र] [मन और बुद्धि] पायूपस्थौ मल मूत्र इन्द्रियां—बुद्धि और मन छिद्र नहीं हैं ।

(अथ० १० । ५ । २) (क्षत्रयोगैः) दुःख भज्जन के ध्यानों [चिन्तन] से ।

(अथ० १० । ६ । ५) (तस्मै) उस [संन्यासी] के लिये (घृतम्)

उत्तम जल घृतादि गोरस (सुराम्) औषधियों का रस (अन्नम् अन्नम्) नाना रस युक्त अन्न भांति भांति के (क्षदामहे) हम भेंट करें (सः) (मणिः) वह वेद रत्न रूप वेद मर्म का ज्ञाता सर्वोत्तम प्रशंसनीय [यति] (पिता इव पुत्रेभ्यः) पिता पुत्र वत् (भूयोभूयः) बारंबार (देवेभ्यः) [अपनी] इन्द्रियों और अन्तः करणों से (एत्य) प्राप्त किये हुए ज्ञानों वा अनुभूत विचारों को (श्रेयः श्रेयः) [जो हमारे लिये] एक से एक सुख प्रद हों (श्वः श्वः) नित्य प्रति आये दिन आकर (चिकित्सतु) वैद्य की भांति बताया करें।

(अथ० १० । ७ । २६) (पुराणम्) पहले वर्तमान कारण [प्रकृति परमाणुओं] को—पुरा-अन् जीवने वर्तने च—अच्।

(अथ० १० । ७ । ३२) [जैसे जीवात्मा शरीर के ··· है] जैसे आकाश [महाभूत] जगत् में सान्तर व्यापक है। जीवात्मा अणु है। एषोऽणुरात्मा चेतसो वेदितव्यः [मुण्डक ५२] "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते (श्वेताश्व० ५ । ६)

अथ० १० । ८ । १) (च च) वर्तमान और (नमः) मेरी क्रिया मात्र हो। अर्थात् हम सब उस की आज्ञा में चल कर सुख भोगें।

(अथ० १० । ८ । ३) (अर्कम् अभि) पूजनीय परमात्मा में सब ओर। ईश्वर अनन्त स्वरूप है उसके आस पास कहना नहीं बनता।

(अथ० १० । ८ । ५) (एकजः) एकला गतिमान्।

(अथ० १० । ८ । ६) (ऊर्ध्वबुध्नः) ऊपर को जड़ [चोटी] वाला।

(अथ० १० । ८ । १२) (अनन्तम्) अवयव रहित=निरवयव एवं नित्य। (अन्तवत्) सावयव एवं अनित्य। अन्त=अवयव=नाश। (पुरुत्रा) बहुत प्रकार रक्षक (विततम्)। सर्वव्यापक।

(अथ० १० । ८ । १५) (दूरे) अति दुष्प्राप्य होता हुआ भी।

(अथ० १० । ८ । १८) (याति) व्यापक है।

(अथ० १० । ८ । २१) (भोग्यः चतुष्पाद् भूत्वा सर्वं भोजनमादत्त) जीवात्मा जरायुज अण्डज उद्भिज और स्वेदज चार प्रकार के उत्पत्ति द्वारों से नाना योनियां धारित करके सर्व भोगों को प्राप्त करते हैं

भावार्थ—भण्डार है=भण्डार है वही जीवों को जरायुजादि चार द्वारों से नाना भोग देता है।

(अथ० १० । ८ । २४) (असंख्येयम्)=जिन की गिनती [गणना] मनुष्यों से नहीं हो सकती [उनके लिये अनावश्यक है] ।

भावार्थ—अनन्त=असंख्य=गणनातीत अर्थात् मनुष्यगणनातीत, क्योंकि परमेश्वर के सर्व प्राणी अर्थात् जीवात्मा मात्र गिने हुए हैं—"संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्" [अथ० ४ । १६ । ५]।

(अथ० १० । ८ । २५) (एकम्) एक अद्वितीय प्रकृति वा परमाणु समूह (बालात्) बाल वा केश से (अणीयस्कम्) अधिक सूक्ष्म है (उत) और (एकम्) स्वतन्त्र कर्ता [जीवात्मा] [न इव] नहीं के समान अर्थात् आकार रहित वा निराकार (दृश्यते) दीखता है, (ततः) उस निराकार से [भी अति सूक्ष्मतम] जो [परि=अभि] बाह्याभ्यन्तरतः=बाहर भीतर से (ष्वजीयसी) चिपटने वाली वा व्यापिका है। (सा) वह (देवता) मोक्षानन्द दाता [परमेश्वर] (मम) मेरा (प्रिया) हित साधक वा पूरा करने वाला है।

भावार्थ—एक नाम स्वतः सिद्ध, एकली उपादान कारण और नित्या प्रकृति [सत्व रज तम तीन प्रकार के परमाणु]—देखो ब्रह्मबोधिनी सन्ध्या, जो सब से पतले बाल की नोक के ७२० वें भाग के बराबर कही जा सकती है और साकार है, दूसरे एक नाम स्वयम्भू जीवात्मा "न इव,, प्रकृति की अपेक्षा नहीं के तुल्य, बाल की नोक के दश सहस्रवें भाग=टुकड़े के सदृश निराकार वस्तु हैं, जो मनुष्य गणनातीत पर जगदीश्वर के गणनान्तर [गिने हुये] हैं, उसी निराकार जीव से सूक्ष्मतम [अत्यन्त पतला] परमात्मा सर्व जीवों को अभि व्याप्त करके सर्वव्यापक जगत्कर्त्ता जीवात्माओं का आचार्य पथ दर्शक, कर्म फल दाता और मोक्षानन्द अनुभाविता होने से जीवों का सत्पिता एवं अत्यन्त हितैषी है।

(अथ० १० । ८ । ३४) (देवाः) सत्यवादी उत्तम पुरुष, (मनुष्याः) सत्यासत्य मिश्रितवादी मध्यम पुरुष (अपाम्) परमाणुओं के, (पुष्पम्) कार्यम्=बने को

(अथ० १० । ८ । ४०) (अप्सु) कारण शरीरों में, (मातरिश्वा) जीवात्मा, (प्रविष्टः आसीत्=आसन्) प्रविष्ट थे, (देवाः) बुद्धि आदि अन्तःकरण चारों और दशों इन्द्रियां आदि, (सलिलानि) सलिले=प्रकृति में, (प्रविष्टाः आसन्)=घुसी [मिली] हुई थीं [तद्रूप होकर लय हो गई थीं]।

भावार्थ—प्रलय के समय सर्व दिव्य पदार्थ जिन सत्व रज तम से बने थे,

उन के रूप के होकर उनहीं में [अर्थात् जो जगत् रचना से बने पृथक रखे थे उनमें] मिल गये थे। और बद्ध जीवात्मा एक एक परमाणु [कारण शरीर] में सुषुप्ति की अवस्था में होगये थे, केवल एक परमात्मा एक रस ठहरा हुआ था ॥

(अथ० १० । ६ । २१) (ऊरू) कोखें, (अष्ठीवन्तौ) कूले कटि के नीचे की हड्डियां।

(अथ० १० । १० । १) (नमः) आज्ञा पालन करें [देखो-ब्रह्म बोधिनी वैदिक सन्ध्या]

(अथ० १० । १० । २) (वशा) स्वयम्भवा क्योंकि अनादि है, जड़ और ईश्वर आधीन होने से स्वाधीना नहीं है। जब कि अल्पज्ञ पराधीन होता है तब सर्वथा ज्ञान हीन की गणना ही क्या।

(अथ० ११ । १ । ५) (देवानाम्) ब्राह्मणों का (पितृणाम्) क्षत्रियों का, (मर्त्यानाम्) मनुष्य किसानों [पशु आदि पालन और वणिक् कर्ताओं] वैश्य लोकों का।

(अथ० ११ । १ । १६) (पञ्चदश:) पन्द्रह कला—५ महाभूत, [आकाश, वायु अग्नि, जल पृथिवी] ६ सुख्य प्राण ७ बुद्धि ८ मन ९ दशों ज्ञान कर्मेन्द्रियां, १० सूक्ष्म शरीर ११ स्थूल शरीर १२ अन्न १३ वीर्य १४ ज्ञान वा मन्त्र १५ नाम वाला जीवात्मा, [प्रश्न० ६ । ४]

(अथ० ११ । ३ । १) (तस्यौदनस्य) उस सुख स्रावक परमेश्वर का (शिरः) मस्तिष्क अर्थात् मस्तिष्क से कार्य लेने वाला उपासक ज्ञानी, (बृहस्पतिः) बड़ों का स्वामी वा वेद वाणी का रक्षक, और (मुखम्) मुख से कार्य कर्ता वा उपदेशक, (ब्रह्म) महान् वा पूज्य [होजाता है]।

भावार्थ—जगदीश्वर का ध्यान करने वाला अर्थात् आत्मस्थ हो ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव का वेद द्वारा चिन्तन करके धारण करने वाला, गृह, ग्राम, नगर, प्रान्त, देश एवं लोक गुरु तथा शासक वेद का रक्षक और पूज्य यथायोग्य बनता है। ध्यान हीन नास्तिक मनुष्य ही वेद निन्दक और उस के शिष्य, सेवक, प्रजा एवं सर्वत्र तिरस्कृत होता है। ध्यान विधि और ईश्वर के गुण धारण करने के प्रकार के लिये ब्रह्म बोधिनी [वैदिक] सन्ध्या देखो।

(अथ० ११ । ४ । १) जब कि इस मन्त्र में प्राण के लिये ईश्वर शब्द का स्पष्ट प्रयोग है फिर प्रश्नोपनिषद् की क्या प्रमाणता। क्या कभी जड़ पदार्थ

प्राण वायु भी ईश्वर हो सकता है । वह तो ऐश्वर्य ही हो सकता है । ईश्वरत्व तो केवल चेतन में घटता है । पुनः म० १२ देखो ।

(अथ० ११ । ६ । २२) (द्वादश) बारह नाम बुद्धि सहित ११ इन्द्रियां या बारह मास, (संवत्सरस्य) नियम से जिस में रहते हैं उस शरीर के अथवा काल (वर्ष) के ।

(अथ० ११ । ६ । १३) (मातली) इन्द्र [जीव] की ग्रहण शक्ति ।

भावार्थ—जड़ मन [अन्तः करण अन्तरिन्द्रिय] द्वारा जड़ [प्राकृत] पदार्थों का ही अनुभव हो सकता है अप्राकृत ईश्वर गुण आनन्द का नहीं, वह तो केवल आत्म अनुभव शक्ति वा मन शक्ति से ही अनुभूत हो सकता है । मोक्ष में जड़ पदार्थों का जीवात्मा से सर्वतः सर्वथा पार्थक्य हो जाता है । जैसा प्रमाणों से सिद्ध है "गताः कलाः पञ्चदशः प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु [मुण्डक० ६]" कस्य नूनं कतमस्यामृतानां को नो मह्या अदितये पुनर्दात् ...... [ऋग् १ । २४ । १]

(अथ० ११ । ७ । २७) (देवाः) ब्राह्मणाः = वेदज्ञ ब्राह्मण (पितरः) क्षत्रिय (मनुष्याः) वैश्य क्योंकि ये तीन ही क्रम से धर्म देश [राज्य] और धन आदि के रक्षार्थ आकाश [अन्तरिक्ष] और भूमि पर जाया करते हैं ।

(अथ० ११ । ८ । २) (च च) ज्ञान और (आस्ताम् = आसन्) थे [३]

(अथ० ११ । ८ । ४) उदान = कण्ठस्थ शिर में क्रिया करने वाला वायु,

(अथ० ११ । ८ । ६) [च च] ज्ञान और (आस्ताम् = आसन्) तीनों थे ।

(अथ० ११ । ८ । ८) (इन्द्रात्) सर्व ऐश्वर्यवान् से, (इन्द्र) भोग्य पदार्थ साधन मेघ वा विद्युत, (सोमात्) सर्व जड़ चेतन के प्रेरक परमेश्वर से, (सोमः) सर्व जड़प्रेरक वायु (अग्नेः) सर्व प्रकाशक जगदीश्वर से (अग्निः) आग (अजायत) उत्पन्न कियी गई । (त्वष्टुः) सब से अधिक सूक्ष्म स्वरूप सूक्ष्म रचक से (त्वष्टा) सूक्ष्म शरीर का कारण महत्तत्व एवं अहङ्कार (ह) निःसन्देह (जज्ञे) प्रकाशित किया गया और (धातुः) सर्वाधार परमेश्वर से (धाता) धारण करने वाला [आकाश] (अजायत) उत्पन्न किया गया है । भाव यह है कि सत्त्व रज तम तीनों द्रव्यों से [जिनका गौणिक नाम प्रकृति और स्वारूपिक नाम परमाणु है] सृष्टि कर्ता ने पूर्व सृष्टि के समान ही सब पदार्थ रचे ।

(अथ० ११ । ८ । १८) (यदा) यत + आ = यतः समन्तात् = क्योंकि सब ओर से ।

भावार्थ—अत = क्योंकि, तब = इस लिये ।

(अथ० ११ । १० । ६) (चतुष्पदी) हस्ति, अश्व, उष्ट्र और खच्चर आरुढ़ ।

(अथ० १२ । १ । १) (ब्रह्म यज्ञ) वीर्य निग्रह पूर्वक वेद को नेत्रों से देखते हुये पढ़ना, और पठित अर्थ को ब्रह्म मुहूर्त में बुद्धि से मनन करना, पुनः अध्यात्म तत्त्व की निदिध्यासिते करके वैसे ही आत्म प्रत्यक्ष करना जैसे मनन से अन्य पदार्थ बुद्धि प्रत्यक्ष वा स्पष्ट निश्चित किये थे ।

(अथ० १२ । १ । १५) (मर्त्याः) मरणशीलेभ्यः = मरने वाले स्थावर जङ्गम, (मानवाः) [मनु इच्छायाम्—अण्] भोगेच्छा युक्त प्राणिमात्र [मनुष्य से वृक्ष पर्यन्त] (येभ्यः मर्तेभ्यः) जिन मरण धर्मी प्राणि मात्र के लिये, जिस पृथवी पर सब प्राणि उतपन्न होते रहते और ईश्वर की सन्तान हैं ।

(अथ० १२ । १ । २६) (अकरम्) सौंपा है—आप्टे कोश ।

(अथ० १२ । १ । ६१) प्राणियों की = प्राणियों के देहों को । कुतः अन्नादि से देह पलते हैं नकि प्राणी प्राण वाला चेतन ।

(अथ० १२ । २ । ४४) (देवानाम्) परोक्ष प्रिय सत्यवादी उपासकों का (अन्तर्धिः) भीतर धारण करने वाला, (मनुष्याणाम्) प्रत्यक्ष प्रिय मिश्रित सत्यासत्य भाषी प्राणियों का (परिधिः) सब ओर बाहर से धारण करने वाला, (गार्हपत्यः)[उन दोनों के गृह नाम शरीर रक्षकों [जीवात्मओं] से संयुक्त वा संबैत, (अग्निः) सर्व व्यापक ज्ञान स्वरूप जगदीश्वर (उभयान् अन्तरा) दोनों देव मनुष्यों के भीतर (श्रितः) ठहरा है ।

(अथ० १३ । १ । ६) (एकपादः) एक अवयव निरवयव ।

(अथ० १३ । १ । ११) (तृतीये) [अपने] गुण स्वभाव से भिन्न (रजसि) क्रिया वा कर्म क्षेत्र में ।

(अथ० १३ । १ । ४५) (एकचक्षुः) समदर्शी

(अथ० १४ । १ । १) लोक दो प्रकार के हैं = लोक तीन प्रकार के हैं ।

[देखो अथ० १३ । २ । २७ और ब्रह्म बोधनी सन्ध्या]

(अथ० १४ । १ । ६४) (पतिलोके) पति के कुल वा परिवार में ।

(अथ० १४ । २ । ३) जाया कस्मात् पिता वै जायते पुनः यस्यां [आत्मा वै पुत्रनामासि) सा पत्नी......जाया का अर्थ पत्नी अमरादि कोश० ४। १११ में भी उपलब्ध होता है। पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते, मनु० ६ । ८। पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् बह्वृच ब्राह्मण । माता कहीं नहीं । उक्त "उत्पत्ति स्थान" का अर्थ माता असंगत है और तत्रस्थ निर्दोष पूरक अर्थ ही युक्त है।

(अथ० १८ । २ । ५०) (दिवि) आत्म प्रकाश से, ज्ञान नेत्र से=आत्म दृष्टि से [आत्म दर्शन शक्ति से] पश्य हि द्रष्टा......(प्रश्न० उ० ४ । ६) "वयं पश्यन्तः" (य० ३५ । ४)

(अथ० १८ । ३ । २) (जीवलोकम्)=जीवित पुरुषों को [सजीव शरीरों को]

(अथ० १८ । ३ । ४) (जीवलोकम्)=जीवित पति के शरीर को (प्रजानती)=सेवती हुई।

(अथ० १८ । ३ । ६५) (अन्तात्) समीप से।

(अथ० १८ । ३ । ७२) (तेभ्यो) तैः= (घृतस्य कुल्या शतधारा व्युन्दती एतु)=उन से ज्ञान का प्रचार अनेक विधि से होवे, अथवा उन की प्रसिद्धि वा नाम के लिये नाना प्रकार संस्कृत पाठशाला, गुरुकुल, आदि से वेद प्रचार आदि के द्वारा ज्ञान का प्रकाश [प्रचार] पक्षपात छोड़ कर करावें जैसे [जल जल की नालियों में बहता, और उन से उमड़ कर उन के बाहर गिरता हुआ अपने तथा अन्यों के क्षेत्रों में भी पहुंचता है, ऐसी ही जाति, धर्म और देश का पक्षपात तज कर विद्या का प्रचार करावें।

(अथ० १८ । ४ । ५१) (जीवम्)इस जीव अर्थात् अपने को [आत्मा को] 'अपने' और "आत्मा" सम्बन्धक और सम्बन्धित, ये दो पद दो अर्थ वाले, सम्बन्ध कारक नहीं हैं। आप नाम सम्बोधित, एवं वक्ता आत्मा ही हैं, जड़ शरीर नहीं, यह मिथ्या [तामस] अहङ्कार त्याज्य है, (आरोह) बैठ।

(अथ० १८ । ४ । ६७) (लोकाः) पुरुषाः, लोक का प्राकृत [बिगड़ा] रूप लोग है।

(अथ० १८ । ४ । ७६) अन्तरिक्ष=आकाश (भूत)

(अथ० १९ । ६ । १ (विश्वतश्चक्षुः) सब ओर से एवं सब स्थानों से दर्शन करने वाला वा दिखाई देने वाला,—मुख उपदेश करने वाला,—बाहुः= बल क्रिया वाला,—पात्=गति, वा दर्शन, बचन, ग्रहण, गमन वा प्रापण शक्ति वाला ।

(अथ० १९ । ६ । ५) (पुरुषः) सृष्टि रचन, धारण, एवं संहरण सामर्थ्य से पूर्ण [युक्त] सर्वत्र व्यापक जगत् कर्ता, (अस्य) पुरुष की सृष्टि का, (मुखम्)=मुख्य पदार्थ [शिर सम] (बाहु) भुजाओं (बल पराक्रम) के तुल्य, (ऊरू) [ऊर्णुञ् आच्छादने इस धातु से ऊरू पद बनता है]=कोखें वा कुक्षियें ।

भावार्थ—जिस भांति कुक्षियें अपने अन्तरस्थ यन्त्र द्वारा अन्न आदि पदार्थों का ग्रहण, पाचन, रसादि धातु भावन [बनाना] करके सर्व धातुवें शिर, भुजाओं और पादों (जङ्घा+पैरों) को पहुंचाती हैं, वैसे ही वैश्य लोक धन धान्य रसादि सर्व भोग्य पदार्थों की प्राप्ति, रक्षा, वृद्धि आदि करके ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्रों को यथा योग्य एवं राज नियम से पहुंचाते हैं यह सनातन धर्म है ।

अत एव ऊरू का अर्थ जङ्घा अयुक्त है । जङ्घाओं में जब [वेग] भार वाहन से युक्त है इस लिये शूद्र स्थानी जङ्घा और पाद (पद) हैं । पद गतौ से पाद बनता है । गमन जङ्घा [टांगों] से होता है, पांव मात्र से नहीं अतः पाद= जङ्घा+पांव, नकि पाद मात्र से गमन वा भार वाहन सम्भव है । देखो— ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा"—अथ० १९ । ६० । २ । ऊरू और जङ्घाओं में भेद स्पष्ट दिखाया है । ओज जैसे पदार्थ की मुख्य वा विशेष आवश्यकता कुक्षिस्थ यन्त्र में है । जहां शरीर स्थिति का एक मात्र साधन रसादि बनाये जाते हैं न कि जङ्घाओं में जो केवल चलन साधिका हैं, जब ऊरूनाम कुक्षीस्थ यन्त्र [उदर] में पाचन शक्ति अर्थात् रसादि बनाने की सामर्थ्य नहीं रहती, तब शिरादि को रसादि न पहुंचने से न शिर रहता [कार्य करता] है न बाहू बाहुवों का कार्य करते हैं और न पाँव [जङ्घा] पैरों का ऐसे ही जब जङ्घा सदृश वैश्य निज गुण हीन होगा तब ब्राह्मणादि को भोग्य पदार्थ न पहुंचने से वे निज कार्य यथाविधि न कर सकेंगे और आज कल्य की भांति स्वकर्म त्यागकर, परकर्म [अर्थात् ब्राह्मण सेवा, कृषि गो आदि पशुपालन बणिक्, भूमि रक्षा; क्षत्रिय सेवा कृषि आदि, वैश्य सेवा, अध्यापन भूमिरक्षा;

तथा शूद्र ब्राह्मण क्षत्रियादि के कर्म] ग्रहण करते हुए "स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः,, इस मानवोक्ति को चरितार्थ करेंगे । मनु० १० । २४)

(अथ० १६ । ६ । ६) (मध्यम्) उदर कुक्षियों से आवर्त [मन्त्र ५ देखिये]

(अथ० १६ । ६ । ७) (मनसः) शरीरान्तरस्थ मन के समान ब्रह्माण्ड के मध्यस्थ रज तम बाहुल्य कृत मृतिका विशिष्ट पञ्च भूतों से, (चक्षोः) शरीर बाह्यस्थ नेत्रों के समान विराट् के बाह्यस्थ सत्त्व विशिष्ट कृत अग्नि प्रधान पञ्च भूतों से सूर्य, (मुखात्) अति अधिक मुख्य रूप [तन्मात्र] से दिव्य अग्नि विजुली एवं आकाश वायु में अधिक रूप मिलाकर सामान्य अग्नि [आग] (प्राणात्) शरीरस्थ चालक प्राण के सदृश महत्तत्वस्थ रज बाहुल्य कृत, स्पर्श विशिष्ट पदार्थ से वायुः ।

भाव यह है कि विराट् प्रकाशित ब्रह्माण्ड = अण्डाकार प्रकाशित महत्तत्व में सत् कृत महत्तत्व शरीर की त्वचा वत् बाहर को रखाया गया, राजस तामस [केवल रजका बना वा केवल तम का] महत्तत्व अभ्यन्तर रखा जिस से वह [महत्तत्व] सब ओर से चमकता था, उस महत्व से सात्विक [सत् विशिष्ट] अहङ्कार बना, उससे शब्दादिक ५ तन्मात्रायें, तन्मात्राओं के सात्विक अंश से सत् विशिष्ट आकाशादि ४ महाभूत और तम अतिबाहुल्य युत अंश से पृथिवी पञ्चम महा भूत । ब्रह्माण्ड को शरीर से उपमित करके बताया है कि हे मनुष्यो! तुम्हारे मन स्थानी महत्तत्व के भीतरी रज तम अधिक से परम्परा से बनी अधिक मट्टी युक्त ५ महाभूतों से चन्द्रमा बना है, ऐसे ही नेत्र स्थानी वाह्य सात्विक महत्तत्व कृत अग्न्याधिक्य ५ महा भूतों से सूर्य, अधिक सत् युक्त मुख्य रूप से बिजली एवमेव बिजुली से कुछ न्यून सात्विक रूप अधिक युक्त आकाश आदि से अग्नि । ऐसे ही राजस महत्तत्व से परम्परा से राजस आकाश और राजस स्पर्श मिला के वायु ।

(अथ० १६ । ६ । १०) वसन्त में घृत, ग्रीष्म में इन्धन और शरद् ऋतु में होम योग्य ओषधियां अच्छी होती हैं, अतः देवयज्ञ के मर्मज्ञ इन वस्तुओं को इन ऋतुओं में वर्ष भर के लिये प्राप्त करके सुरक्षित रखें। इन्ही ऋतुओं में ये पदार्थ उत्तम होने से तीन ही का वर्णन है शेष तीन वा सर्व ऋतुवों का प्रकरण यहां नहीं है । हव्य पदार्थों का प्रकरण है । अतः केवल ३ ऋतु वर्ष के यहां न मानने चाहिये ।

(अथ० १६ । ६ । १५) (पशुम्) प्रकृति को, (अबध्नन्) निश्चित किया अर्थात् अपने से भिन्न एक परमात्मा और जड़ प्रकृति का निश्चय किया ।

भाव यह है कि ऋषियों ने संप्रज्ञात समाधि के उत्तर अङ्ग वैचारिक में केवल कारण शरीरस्थ ही कर परमाणु नाम जड़ प्रकृति की सत्ता एवं स्वरूप का निश्चय किया और असम्प्रज्ञात समाधि में आत्माश्रित वा परमात्म स्वरूपस्थ हो कर आत्म परमात्म स्वरूप का साक्षात् दर्शन एवं निर्णय किया है ।

(अथ० १६ । ६ । ११) ८ वसुवों में प्रकाश, के स्थान में 'जल, युक्त प्रतीत होता है । किञ्च वसु पद वास दाता वा वास स्थान वाचक है, जल में जलचर जीव रहते हैं, जैसे अन्तरिक्ष आकाश में तद्वासी । किन्तु प्रकाश का स्थान अन्तरिक्ष से बाहर कहीं नहीं है । जिससे उसकी वसुवों में गणना उतनी युक्त हो जितनी जलकी । मर्यादादेवोत्तम महर्षिदयानन्द स्वयमेव एकादश संस्करण सत्यार्थ प्रकाश के ८ समुल्लास के पृ० २४२ पर जल और आकाश दोनों महाभूतों को वसुवों में गिनते हैं यह उनका निज का मत प्रतीत होता है ।

(अथ० १६ । २३ । १३) तप सूक्ष्म शरीर [तपो अधिष्ठान] कर्म लोक= चेष्टा [क्रिया] आश्रय स्थूल शरीर ।

(अथ० १६ । २३ । १४) (सप्तदशर्चेभ्यः) ८ सिद्धि+६ ऋद्धि ।

(अथ० १६ । ३६ । २) (शृङ्गाभ्याम्) पत्तों से (मध्येन) दण्ठल से ।

(अथ० १६ । ३८ । २) गन्धकिया जाता है=हवन किया जाता है ।

(अथ० १६ । ५१ । १) (अहम) मैं [जीवात्मा] (मे आत्मा) मेरा अन्तर्यामी आत्मा नाम परमात्मा, कुतः दोनों स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर अपितु कारण शरीर [एकपरमाणु] ये तीनो जड़ हैं इनमें भाषण शक्ति जो चेतन [ज्ञानी] का गुण है नहीं हो सकती और न है । अहं पद का वक्ता चेतन आत्मा ही है । उसका [अन्तर्यामी] आत्मा परमात्मा ही हो सकता है और वह ही है । अन्य नहीं । ।जैसा कि "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो—बृ० उ० माध्या० शाखा । एवं "तमात्मस्थं,,—कठ० ५ । १२ "तस्मिन् हिरण्यये कोशे अरे त्रिप्रतिष्ठिते । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः । अथ० १० । २ । ३२ ।

(अथ० १६ । ५६ । १) (यमस्य) नियामकस्य=नियम में चलाने वाले [परमेश्वर के] (लोकात्) लोक् दर्शने=दर्शनात् दर्शन होने पर; अथवा यमस्य=जीवके [देखो अथ० ८ । १० (४) । ६) लोकात्=दृश्यमान स्थूल शरीर

[शव] से, (अधि) अधिकार पूर्वक अर्थात् [देखे सुने वा भोगे पदार्थों के चित्रवत् वा किये कराये कर्मों क्रियाओं और भोगे भोगों के संस्कार रूप] मनाश्रित होकर (आबभूविथ) [स्वप्न] आया है, (धीरः) स्थिर = अविचलित न डिगमिगाने वारा (प्रमदा) प्रमाद के संग (मर्त्यान्) मरण धर्मियों वा आलसियों को, (प्रयुनक्षि) = प्रयुनक्ति = विशेष रूप से [हृदयस्थ हो कर] काम में लगाता है, पूर्व देखे सुने आदि पदार्थों के दर्शनादि में आसक्त करता है, (असुरस्य योनौ) प्राणरक्षक वा उदर पूरक जीव के शरीर में वा अन्तःकरण में, (स्वप्नम्) आलस्य, (मिमानः) करता हुआ, (विद्वान्) चैतन्य ज्ञानवान्, (एकाकिना) असंगी [सम्बन्धी जनों से वियुक्त] एकले जीव के साथ (सरथम्) एक रथ [अन्तःकरण वा कारण शरीर] में, (यासि) = याति, चलता है ।

भावार्थ—जब सर्वनियन्ता जगदीश्वर जीव को उस के स्थूल शरीर से [सृष्टि काल में] वा स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों से [प्रलय काल में] पृथक् करने को [जीवापेक्ष्य] साक्षात् रूप से उद्यत होता है और जीव उसके दिये देह से अलग होने लगता है । उस समय उसके क्रिया, कर्म और भोग का अभ्यास स्थूल संस्कार रूप, और उनके सम्बन्धी सर्वपदार्थ चित्र रूप से उस के सूक्ष्म शरीर में, वा सूक्ष्म रूप से कारण शरीर में आश्रय पाकर उसके संग दूसरे स्थूल देह वा स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों को प्राप्त होते [पहुंचते] हैं । पत्र पर से चित्र के के समान, अन्तःकरणों से नहीं हटते । आलसी प्रमादी, बहुत खाने वाले बहुत सोने वाले तामसी प्राणी बहुत स्वप्न देखते हैं । सब पदार्थों के मानसिक चित्रों का [जो निद्रावस्था में दीखते हैं अथवा जागृतावस्था में भी जिन के श्रवण दर्शनादि अपितु स्मृति मात्र से हर्ष भय शोक आदि होते हैं] का सामूहिक नाम स्वप्न है । एवं जिस अवस्था में वे मानसिक चित्र दीखते हैं उस का नाम भी स्वप्न है ।

अङ्क—सृष्टि काल में स्थूल शरीर नष्ट होता है । सूक्ष्म और कारण शरीर रहते हैं । प्रलय में सूक्ष्म भी नष्ट होता है केवल कारण रहता है ।

(अथ० १६ । ५६ । २) [हे स्वप्न!] (त्वा) = तं,उस स्वप्न को, (रात्र्याः) लघु रात्रि वा महा रात्रि वा रात्रि के अन्धकार सम मृत्यु अन्धकार के, (अमितोः) होने से (अग्रे) आगे, (एके अह्नि) केवल दिन (कार्यकाल वा

जीवन समय में] छिपाते हुआ तू = छिपाता हुआ, (इदम्) यह स्वप्न, (अधि) अन्तः करणों में स्थित होकर पूर्ण स्थिरता से, (आ) सर्वत्र [जगत् में] (बभूविथ) व्यापा है।

भाव यह है कि जो क्रिया कर्म और भोगों के संस्कार वा तत्सम्बन्धी पदार्थों के चित्र मन चित्त एवं अहङ्कार में कार्यकाल में वा जीवन समय में आश्रय लेते हैं वे चिर काल पर्यन्त जीव के साथ रहते हैं, अर्थात् जैसे दिन [जागृतावस्था] के संस्कार रात्रि [स्वप्न अवस्था] में रहते हैं वैसे ही जीवन काल के संस्कार वा उपर्युक्त चित्र अन्य जन्म में जाते हैं। परन्तु प्रलयावस्था में सूक्ष्म शरीरों के नाश से वे संस्कार और चित्र अति सूक्ष्म रूप से कारण शरीर में और उसका ज्ञान आत्मा में सूक्ष्मतम रूप में रहता है, तदनुसार पूर्ण ज्ञानी सृष्टि कर्ता यथावत् [illegible] उनके अन्तः करणों में वैसे ही संस्कार आदि उपस्थित कर देता है। अतः वे संस्कार आदि वैधक [स्थूल दर्शन] विद्या की पहुंच के बाहर हैं। अत एव कर्माधिकारी जीवात्माओं को चाहिये कि आलस्य, प्रमाद, छल, कपट चोरी जारी अन्याय आदि आदि अधर्मों को त्याग कर शुभ वैदिक कर्मों को करें जिस से उक्त संस्कार एवं दुःख से बचकर इस लोक [इस शरीर] और द्वितीय शरीर में संसार सुख और मोक्षानन्द को प्राप्त करें।

(अथ० १९ । ५६ । २) (बृहद्गावा) महती प्राप्तियुत [स्वप्न विद्या] (महिमानम् इच्छन्) अपनी वृद्धि एवं प्रचार के अर्थ, अथवा स्वप्न [गाढ़ निद्रा] प्राकृत साधनों का सर्वथा निष्क्रिय होना [वा सर्वतः सर्वथा पृथक् होना] (बृहद्गावा महिमानम् इच्छन्) महती [ईश्वरानन्द अनुभवरूप] प्राप्ति वाला अपने गौरव = वृद्धि [पूजा वा प्रकाश] को चाहता हुआ, विषयी प्राण रक्षक अयोगियों के समीप से, [हट कर] (देवान्) विरक्त मुमुक्षु योगियों को (उप अवर्तत) = उपवर्तने, प्राप्त होता है, [तब] (स्वः) सुख [समाधि वा मोक्ष आनन्द] (आनशानाः) भोग चुकने वा उपभुक्त कर चुकने पर, [उन समाधिस्थों वा मुक्तों के समाधि से उठने अथवा पुनरावर्तन के समय उन के] (त्रयस्त्रिंशासः) तेतीस [१० इन्द्रिय + १० प्राण + ४ अन्तः करण और ९ गोलकों] वा जीव की २४ शक्तियों + काम क्रोधादि + ४ अविवेक, अविद्या, कर्म, वासना) [देवे] [यथाक्रम) (तस्मै स्वप्नाय) उस लौकिक जागृति और सुषुप्ति के,

यद्वा पारमार्थिक जागृति [मुक्ति] और सुषुप्ति [प्रलय] के मध्य [बीच] की अवस्था को, (आधिपत्यम्) शासक पन, (दधुः) = दधति = देते हैं ।

भावार्थ—मलिन अन्तःकरण युक्त वेद मर्म अनभिज्ञ उपासना न करने वारे आत्माओं को स्वप्न विद्या नहीं प्राप्त होती, वेद तत्त्व बुभुत्सु शुद्ध अन्तःकरण वाले उपासक मुमुक्षु जीवों को उक्त ज्ञान यथार्थ प्राप्त होता है । ऐसे ही अनुपासक अज्ञानी जीवों को भी यद्यपि गाढ़ निद्रा में अज्ञान पूर्वक ईश्वर प्राप्ति होती है पर वे उसे नहीं समझते, उपासक विद्वान् सुषुप्ति के तात्त्विक स्वरूप को विचार एवं अनुभूत करके, उसी [सुषुप्ति] के सदृश जागृतावस्था में सर्वतः सर्वथा निश्चेष्ट अर्थात् प्राणों की भी गति को रोक समाधिष्ट होते हैं, तब ज्ञान पूर्वक ईश्वर को साक्षात् प्रत्यक्ष करके उस स्वप्न नाम प्राकृत निश्चेष्टापन का महत्त्व समझते हैं; और उस समय आनन्द पाकर वे [योगी जन] ३३ देव नाम १० इन्द्रिय + १० + प्राण + ४ अन्तःकरण और ९ गोलकों [कान + आंख + नाक + मुँह वा मुख + खाल वा त्वक् + हाथ + पाँव + उपस्थ और पायु [मल मूत्र इन्द्रियों] के विषयों [भोग्य जड़ पदार्थों] को किंवा २४ आत्म-शक्तियों के लौकिक विषयों और काम क्रोधादि + अविवेकादि नवों [९] को व्यर्थ एवं दुःखद मानते हैं एवं विरक्तता पूर्वक समाधि [योग] करते २ परमेश्वर को पूर्णतया साक्षात् आत्म प्रत्यक्ष करके मुक्त होते हैं; और मुक्तावस्था में सर्व प्राकृत साधनों [स्थूल सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों] से सर्वतः सर्वथा पृथक् होकर [देखो "गताः कलाः पञ्चदशाः प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु०······मुण्डक] मोक्षानन्द का अनुभव करते हैं । पुनरावर्तन काल में [मोक्ष सुख पा चुकने एवं मुक्ति समय समाप्त होने पर] अपनी उपर्युक्त २४ दिव्य शक्ति नाम देवता एवं ९ कामादि [प्रवाह अनादि पदार्थों] के संसार सुख भोगार्थ उनको स्वप्न नाम [लौकिक जागृति और सुषुप्ति की मध्यावस्था के समान] पारमार्थिक वा वास्तविक, पूर्ण एवं निरन्तर जागृति [मुक्ति] और वास्तविक, पूर्ण एवं निरन्तर सुषुप्ति [प्रलय] की मध्य दशा नाम ब्रह्म दिन [सृष्टि काल = जगत्] के आधीन करते हैं अर्थात् मुक्ति से लौट कर जगत् में आते हैं ।

अङ्क—यहां शतपथीय वा यास्कीय ३३ देवों की अपेक्षा उपर्युक्त दोनों प्रकार के ३३ देव विशेष युक्त हैं । [८ सि० ९ ऋ० + १६ कला] = ३३ देव कहे जा सकते हैं ।

स्वप्न विचार एवं व्याख्या—सर्व साधारण जन जानते हैं कि स्वप्न में सोना [प्रायः सर्व शरीर का अक्रिया होना] और मनादि करणों से जगत् के देखे सुने आदि पदार्थों का देखना सुनना आदि दो कार्य होते हैं। गाढ़ निद्रा में सर्व अङ्ग एवं सर्व इन्द्रियां और सब अन्तःकरण निश्चेष्ट हो जाते हैं। आत्मा निश्चेष्ट केवल अविवेक पूर्वक आनन्द अनुभव करता है। इस के कुछ विरुद्ध समाधि वा योग में सब स्थूल सूक्ष्म शरीराङ्गों की निश्चेष्टता के संग प्रायः प्राण भी अक्रिय होने पर विवेक पूर्वक जीवात्मा ईश्वरानन्द अनुभव करता है। अत एव सामान्य लोकव्याख्यात स्वप्न का तुलनात्मिक अर्थ "समाधि" युक्त है। पूर्व में आत्म-मानस शक्ति मनेन्द्रिय द्वारा कार्य करती है, उत्तर में स्वयं बिना करण। स्वप्न के दो अर्थ हैं—१ गाढ़ निद्रा [सुषुप्ति]—२ सोने में कुछ क्रिया मनादि से करना, सुषुप्ति की तुलना समाधि और मोक्ष के साथ इस लिये करते हैं कि तीनों में प्राकृत शारीरिक हल चल नहीं होती और अविवेक वा विवेक पूर्वक बिना साधनों के आनन्द का अनुभव होता है।

प्रलय में वास्तविक चिर सुषुप्ति होती है क्योंकि दोनों कार्य शरीर नहीं रहते। मोक्ष को वास्तविक, पूर्ण एवं निरन्तर जागृति कहना न्याय संगत है कुतः उस अवस्था में जीवात्मा अपने एवं ब्रह्म स्वरूप का तात्त्विक एवं यथार्थ ज्ञान रहते हुये ईश्वरानन्द अनुभव करता है और असाधन [बिना इन्द्रियों के] यथेच्छ गतिमान् रहता है [विचरता है], इसी लिये मोक्ष और प्रलय की मध्य वर्त्ती दशा का उपमानात्मिक एवं यौगिक अर्थ जगत् [सृष्टि काल], फलतः स्वप्न [सोना और जगत् के पदार्थों का मानसिक भोगाभोग] किया गया है, क्योंकि जगत् में रहने की दशा में प्राणी को सामान्यतया अपने स्वरूप का यत् किंचित्, कथन भर को वा भ्रम सा एवं उलटा सुलटा ज्ञान रहता है पर इस के विरुद्ध वह जगत् के जड़ पदार्थों में प्रायः पूर्णतया रमा रहता है। कभी ध्यान समाधि में आत्मा परमात्मा का छाया सा भ्रम मूलक देखा अथवा कतिपय दिवस आवागमन में एक स्थूल से दूसरे स्थूल देह तक जाने के मध्य सूक्ष्म शरीर मात्र में रह कर कुछ ज्ञान रहा, पुनः यथा पूर्व दशा होती है। जहां स्वप्न में जीवात्मा शरीर को सर्वतः स्थिरता पूर्वक स्वस्थ करते हुये आनन्द अनुभव करते हैं और किञ्चित् [लोक के] भोग भी मन से भोगते हैं। वहां सम्पूर्ण जगत् काल में सामूहिक

रूप से, वे [जीव] शारीरिक भोगार्थ शरीर को प्रायः सचेष्ट करते हुये शारीरिक सुखादि भोगते हैं और पूर्वोक्त यत् किंचित् ज्ञानानुभव यथा कथा एवं यदा कदा करते हैं। जैसे स्वप्न में जगत् के पदार्थों का किञ्चित् ज्ञान भ्रमात्मिक होता है वैसे ही [मानव दैनिक जागृति के समान] ब्रह्म दैनिक जागृति में यत् किञ्चित् आत्म ज्ञान रहता है, स्वप्न में शारीरिक निश्चेष्टता होती है जागृति में स्वयं आत्मिक। मुक्तावस्था में स्वयं एवं साक्षात् आत्मिक चेष्टा होती है। ["देखो स नो बन्धु ....तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" य० ३२। १०], प्रलय में सर्वथा विपरीत पूर्ण आत्म स्थिरता होती है। इन दोनों के मध्य वा विलक्षण सृष्टि काल में आत्मा प्रायः शारीरिक चेष्टायें और कभी २ आत्मिक क्रिया [योगादि] करता है। अतः जगत् का अर्थ-स्वप्न किया गया है।

समाधि और सुषुप्ति में अचिरानन्द होता है; मोक्ष में चिर [देखो० द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धाते सां०]।

स्वप्न नाम गाढ़ निद्रा पद वाच्य से असंप्रज्ञात समाधि और ब्राह्म मोक्षानन्द स्वरूपता का सादृश्य एवं साम्य है। और स्वप्न नाम अपूर्ण निद्रा [मानसिक क्रिया सहित] से जगद्भास का सादृश्य है। इति स्वप्न विवेकः।

(अथ० १६। ५६। ४) (नैताम्) न [स्वप्न में हुई] इस [प्राप्ति] को, अथवा न एतम्=न इस [उपर्युक्त आनन्द प्रापक स्वप्न] को, (पितरः) क्षत्रिय लोक (उत) और (न) (देवाः) ब्राह्मण [वेद पाठी] लोक (विदुः) जानते हैं; (येषाम्) जिनकी, (जल्पिः) वक्तृता=वाणी=आज्ञा, (इदम् अन्तरा) इस संसार में, (चरति) विचरती, व्याप्त वा मानी जाती है। (वरुणेन) श्रेष्ठ ब्रह्मवित्गुरु से वा सर्वश्रेष्ठ उपास्य देव जगतगुरु ब्रह्म से (अनुशिष्टाः) शिक्षा पाये हुये, (नरः) अपने स्थूल सूक्ष्म शरीरों के यथार्थ नेता, (आदित्यासः=आदित्य—आसः) अनादि अनन्त ब्रह्म में स्थित वा समाधिष्ठ होकर, (आप्तये) यथार्थ सत्य वक्ताओं के हितु वा सर्वथा पूर्ण आप्तकाम् [परमात्मा], (त्रिते) तीनों लोकों के विस्तारक एवं तीनों लोकों में व्यापक होकर उससे बाहर वर्ते वा निकले हुये जगदीश्वर में, (स्वप्नम्) [सर्वथा सर्वतः सर्वदा] अचलत्व=कूट [स्वरूप] स्वप्न एवं तत्फल का आनन्द स्वरूपत्व अर्थात् सब भांति सब ओर से नित्य न हिलना चलना और इस कारण अत्यनन्त आनन्द होना, अथवा, (आप्तये) आप्त आत्माओं के

सत्कार करने वारे वा समाधिसुख [वा मोक्षानन्द] प्राप्त करलेने वारे, (त्रिते) तीनों [जन्म नाम स्थानों] को प्राप्त किये वा पार किये हुये, तीनों कालों में गति [रहने] वारे, एवं तृतीय धाम नाम ब्रह्म मात्र को प्राप्त किये हुये (देखो— अथ० ५ । १ । १) समाधिष्ठ वा मुक्त जीव में, (स्वप्नम्) विषय प्रापक सर्व प्राकृत साधनों के निश्चेष्ट [स्थिर] होने वा सर्वतः सर्वथा अलग हो जाने पर समाधि सुखानुभव वा मोक्षानन्द अनुभव को, (अदधुः) दधति [ठहराया, निश्चित किया] ठहराते निश्चित करते हैं ।

भाव यह है कि शरीरिक बल वा मानसिक [विद्या] बल से स्वप्न-सिद्धि वा स्वप्नसिद्ध पदार्थ का ज्ञान बड़े से बड़े सेनाध्यक्ष शूर वा विद्वान् लोक मान्य पण्डित को लौकिक गुरु वा साक्षात् जगद्गुरु जगदीश्वर से सीख-कर ईश्वरोपासना किये विना नहीं होसकता ।

जो जीवात्मा उक्त विधि ज्ञान प्राप्तकर योगाभ्यास करते हैं वे ही सुषुप्ति के आनन्द स्रोत को जानकर सर्वथा शरीरिक क्रिया को रोके हुये आत्मस्थ वा परमात्मस्थ होकर [यथा अधिकार] समाधि के आनन्द को पाते हैं, अथवा कार्य और कारण जगत् [स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों] से पृथक् [मुक्त] होकर मोक्षानन्द का अनुभव करते हैं । तथा समाधि अवस्थित होकर निश्चित करते हैं कि ऐसा सापेक्ष आनन्द [बन्धन के अन्तर सहित एक अर्थात् बड़े काल तक [जिस के पीछे बन्धन अवर्जनीय है] जीव को मिल सकता है, और निरन्तर निरपेक्षानन्द नित्य मुक्त ब्रह्म को ही नित्य प्राप्त है, स्वप्न नाम गाढ़ निद्रा [सर्वतः निश्चेष्टत्व] का पूर्ण, नित्य एवं वास्तविक स्वरूप तथा भाव ब्रह्म में ही प्राप्त है । जो सर्वतः सर्वथा सर्वदा निश्चेष्ट, कूटस्थ नित्यानन्द स्वरूप है ।

अङ्क—तृतीय मन्त्र वत्, मन की जागृति और शेष सर्व साधनों की सुषुप्ति को यहां भी आत्म जागृति और सर्वकरण सेन्द्रियादि की सुषुप्ति [अक्रियता] से तोला गया वा समता दी गई है, और फिर उत्तर दोनों [आत्मादि] को ईश्वर स्वरूप (जो अनन्त और सर्वव्यापक होने से अचल है] और परमात्म ज्ञान की एकरसता से तुलना की गई है । जैसे लोक प्रसिद्ध स्वप्न में सब इन्द्रियादि स्थिर होजाते हैं और मन द्वारा विषय अनुभव होता रहता है, । ऐसे हो सुषुप्ति और समाधि में मन सहित सर्व साधन अक्रिय, और मोक्ष में वियुक्त होजाते हैं और आत्मा को स्वयं [अकरण=विना

साधनों के] ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है, एवमेव ब्रह्म नित्य अक्रिय और आनन्द स्वरूप है। अत एव यह वाक्य सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्म रूपता, अर्थात् जीव को समाधि सुषुप्ति और मोक्ष में बिना करणों के ब्रह्म सदृश (अपाणिपादो जवनो) कर्ता कहा है।

(अथ० २० । १३ । १) विद्वत्सभाराजसभे संगत्य राज्यं रक्षेताम्= विद्वत्सभा और राज सभा दोनों मिल कर राज्य को रखावें।

(अथ० २० । ३५ । ६) (रणाय) जड़ चेतन दोनों को संघर्ष समाप्त करने को [मोक्ष प्राप्ति के लिये], (आववक्षे) परमाणुवों को संहत [जगदाकार] किया है।

(अथ० २० ५८ । २) (अनर्शरातिम्) निस्स्वार्थ दानी।

(अथ० २० । ७१ । ५) भावार्थ—परमात्मा अपने अतोल बल···कर रहा है=परमात्मा ने अपने अनन्त बल के तुच्छ [अति अल्प] मात्रा से, अपने अनन्त स्वरूप के अल्प देशस्थ सब जगत् को बनाया [रचा] और धारित किया है।

देखो ·····"पादो अस्य विश्वा भूतानि···"(यजु० ३१ । ३),

(अथ० २० । ७६ । १ (इन्द्र) हे परमेश्वर! (नः) हमारे लिये, (क्रतुम्) बुद्धि (आभर) सर्व प्रकार भरदे (यथा) जैसे पिता जनक=बाप (पुत्रेभ्यः) सन्तानों के लिये, (पुरुहूत) हे बहुत बुलाये गये [परमात्मन्] (अस्मिन्) इस (यामनि) समय वा मार्ग [जगत् के व्यापार] में (नः) हम को (शिक्ष) सिखा, [जिस से] (जीवाः) हम जीव लोक (ज्योतिः) प्रकाश को (अशीमहि) पावें। भावार्थ—इस मन्त्र में उपदेश है कि हे शरीरस्थ जीवात्माओ जिस प्रकार तुम अपने शारीरिक पिता एवं माता से संसार के कार्य चलाने को नाना विधि से शिक्षा लेते [उनसे पूछते] हो वैसे ही तुम जगद्व्यापार तथा परमार्थ प्राप्ति मार्ग में, परमात्मा [जगदाचार्य] से शिक्षा प्राप्त किया करो।

(अथ० २० । ८७ । २) (हृदा) हृदय=मनसे, (मनसा) बुद्धि से, ॥

(अथ० २० । १२६ । १) (इन्द्रम्) इन्द्रिय युत शरीरी जीवात्मा को, (मत्सखा) [अहंनाम] मुझ [पद वाच्य) जीवात्मा का नित्य सङ्गी समान प्रसिद्धि वाला (वृषाकपिः) सर्व शक्तिमान् नियामक जगदीश्वर (पुष्टेषु) पुष्ट किये [यथाविधि] बनाकर धारण किये हुये] लोकों में, (अमदत्)

मदति=आनन्दित रहता है (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा, (विश्वस्मात्) सब जगत् से (उत्तरः) परे, उत्तम है।

भावार्थ—तत्त्वचिन्तन [ध्यान समाधि] त्याग देने से शरीर जीवात्मा को प्राकृत पदार्थों, प्रकृति वा परमाणुओं का भी यथार्थ बोध नहीं रहता, अपितु पांचो भूतों को कितने नहीं जानते वा जान नहीं सकते, आत्म स्वरूप का ज्ञान तो हो ही नहीं सकता, अपने को भौतिक शरीर [जड़] मानते जानते हैं, अपनी आयु के वर्ष १०, २०, ३०, ४०, ५० आदि बताने लगते हैं, अपने को दुबला, मोटा [स्थूल] रुग्ण स्वस्थ आदि आदि कहते हैं। शरीरापेक्ष्य छोटा बड़ा आदि आदि जान मान कर प्राणि सर्वांश आत्मघाती सर्वथा मिथ्यावादी बन जाते हैं। अन्यथा तत्त्व निष्कर्ष से स्थूल लोकों [लोक दर्शने—जो कुछ स्थूल नेत्रों से वा अन्य इन्द्रिय गोलकों से देखा वा जाना जाता है अर्थात् सूर्यादि तथा उनके निवासी प्राणियों के शरीरादि एवं अन्य अप्राणि अर्थात् केवल जड़ पदार्थ] और उन के कारण सूक्ष्म स्थूल दशों भूतो एवं सूक्ष्म भूतों के कारण अहङ्कारादि को यथावत् जानकर आत्म [गुण कर्म स्वभाव रूप] शक्तियों एवं निज स्वरूप को भी वे ही प्राणी [मनुष्य शरीरधारी] जान लेते हैं पुनः स्वरूप प्रतिष्ठित होकर ब्रह्म स्वरूप का साक्षात् दर्शन करते हैं जो मोक्षप्रद होने से सर्वोपरि है।

अङ्क—जीवात्मा—चेतन, अल्पज्ञ, स्वयम्भू, कालापेक्ष्य अनादि अनन्त, अणु स्वरूप [अत्यन्त लघु] है, और ब्रह्म चेतन सर्वज्ञ, स्वयम्भू काल एवं देशापेक्ष्य अनादि अनन्त विभू स्वरूप [अत्यन्त महान्]; जीव से सूक्ष्मतर [विशेष पतला] होने से उसमें भी नित्य व्यापक है और इस लिये कभी उस से पृथक् न होने से उसका सखा कहा जाता है।

साधुचेतावनी—एक शरीर में दो आत्मा (एक शरीर धारी और दूसरा भीतरी वा अशरीरी) एकैव तदाभिमानी नहीं होते वह रह सकते हैं, यह मत वेद एवं बुद्धि विरुद्ध होने से अग्राह्य और त्याज्य केवल भ्रम मूलक है।

(अथ० २० । १२६ । २) (वृषाकपेः) बल स्वरूप भोग दाता जगन्नियन्ता परमेश्वर से, (अन्यत्र) शरीर से भिन्न [अन्य] शरीर में, (सोमपीतये) ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये, (प्रविन्दसि) प्रविन्दति=विशेष रूप से [स्वयम् शरीर छोड़ वा शरीर घात करके] पाता है, (इन्द्रः) जगदीश्वर।

भावार्थ—हे जीव! यदि जगदीश्वर के न्याय से मूर्खता वश तू!

असंतुष्ट होकर आत्म [अपने] शरीर का घात अर्थात् स्वतः किसी प्रकार देह त्याग करता है [करेगा] तो तुझे दूसरे लोक [शरीर] में भी सुख नहीं मिलता [मिलेगा] क्योंकि तू अनन्त स्वरूप सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ अत्यन्त निष्पक्ष न्यायी जगदीश्वर से बच नहीं सकता वह सर्वत्र है।

(अथ० २० । १२६ । ३) (वृषाकपिः) अत्यन्त बली सर्वशासक परमेश्वर, (यस्मै) जिस अपकार [हानि] के लिये, (पुष्टिमत्) सर्वपोषक, (वसु) जगन्निवास = संसार के निवास स्थान परमात्मा जगदाधार का, (इन्द्रः) अनन्तैश्वर्य युक्त परमेश्वर।

भावार्थ—सर्व नियामक अत्यन्त निष्पक्ष न्यायी जगदीश्वर ने हे जीव! तुझे अन्याय से हानि वा कष्ट नहीं दिया है उसकी अस्तुति मत कर। वह सर्व दोषों से (उत्तर) अत्यन्त दूर वा परे है।

(अथ० २० । १२६ । ४) (वृषाकपिः) जीवात्मा, बली राजा, (इन्द्र) मुक्त जीव।

(अथ० २० । १२६ । ५ (कपिः) चञ्चल चिन्तन शक्ति ने, (शिरः) शिरस्थ चित्त वा उत्पत्ति स्थान व साधन [दुष्ट संस्कार] (राविषम्) [उपासना द्वारा] नष्ट करदूं। (इन्द्रः) जगदधिपति परमेश्वर, (उत्तरः) उबारने पार करने वाला है। भाव यह है कि—जीव के जो दुष्ट संस्कार मन और चित्त में रहते हैं वे नाना दुष्कर्मों के साधन बनते हैं। किये कराये शुभ कर्मों को भी दुष्ट संस्कारों के वश [स्नान कृत हस्ति के समान धूलिप्रक्षेपण रूप] दुष्ट कर्मों से वह आवर्त कर लेता है। उन दुष्ट संस्कारों को हटा शुभ संस्कारों से आभूषित करने वाला सब जैव दुर्गुणों से नित्य परे जीवों को पार करने वाला "अलसालः" परमेश्वर ही है।

(अथ० २० । १२६ । ६, ७) (इन्द्रः) जगदीश्वर। भाव यह है कि मन्त्रोक्त पदार्थों की सिद्धयर्थ एक मात्र यह ज्ञान कि जगदीश्वर ही सर्व पदार्थों का प्रापक [दाता] है, अत्यन्तावश्यक है।

(अथ० २० । १२६ । ८) (वृषाकपिः) सबल प्रबन्धक लौकिक [अनित्य असत्पति] जीवात्मा अत्यन्त बली अध्यक्ष नित्य एवं सत्पति परमेश्वर को (अभीषि = अभिप्यसि) [अम गतिशब्दसम्भक्तिषु] जानेगी, सम्बोधित करेगी [बुलावेगी] एवं सेवेगी, (इन्द्रः) जीवात्मा वा जगदीश्वर।

भावार्थ—ईश्वर का उपदेश है कि शारीरिक पत्नी शरीरस्थ आत्मा को

चाहिये कि वह अपने शरीर के अशरीर पति को जगत् के सब प्राणियों से उत्तम मान कर पतिवत् केवल उसी की सेवा करे, और ऐसे ही अपने शरीर के एवं अपने [कर्थात् आत्मा के] नित्य पति [जगत्पति] को सर्व जगत् का पूज्य तथा वास्तविक सर्वोत्तम जान कर, ईश्वर उपासना [योग] को निज परम कर्तव्य करे।

अथ० २० । १२६ । ६ , १०) (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वारा पति, [म० ८ देखो]

(अथ० २० । १२६ । ११) (इन्द्राणी) बड़े ऐश्वर्यवान् [प्राणि] राजा की पत्नी, शक्ति, वा परमेश्वर की विभूति एवं शक्ति को, (इन्द्रः) मनुष्य राजा वा परमेश्वर (अपरम्) दूसरे शरीर धारी वा अशरीरी निराकार जीवात्माओं के समान (मरते) मरता अर्थात् वियुक्त होता है ।

भावार्थ—महदैश्वर्यवान् पुरुष [जीवात्मा] ऐश्वर्य के सदुपयोग एवं दान से अपने नाम को चिरञ्जीवी करता है। परमैश्वर्य वान् जगत्पिता का ऐश्वर्य प्राणि अप्राणि वा मुक्त बद्ध सब के लिये है, न तो उस ऐश्वर्य का वार पार है और नहीं ऐसे अपार ऐश्वर्य वाला अजर अमर जगदीश्वर कभी मरता वा जीता [प्रकृति से संयुक्त रहता] है, ऐसा जानकर उसी की उपासना [योग] से चक्रवर्ती राज्यादि एवं सर्वोत्तम मोक्ष ख्याति की प्राप्ति करनी चाहिये ।

(अथ० २० । १२६ । १२) (इन्द्राणी) वृहदैश्वर्य के स्वामी वीर पुरुष की वीरा पत्नी, (वृषाकपिः) सर्वाध्यक्ष अनन्त शक्तिमद् ब्रह्म (यस्य) जिस ईश्वर का, (इन्द्रः) जगदीश्वर ।

भावार्थ—ईश्वर का उपदेश है कि हे बड़े ऐश्वर्य वारे पुरुष शरीर की पत्नी देहस्थ आत्मा तू गर्व मत कर सर्वेश्वर प्राणी अप्राणी का नियामक और शासक है, उस के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता, वह ही सर्वव्यापक सर्वाधार हो सब को साधनोपसाधन सम्पन्न करके सर्व क्रियाओं में सहकारी रूप नित्य शुभ कर्म के लिये बलात्कार—हीन, उदासीन रूप से प्रेरणा [उपदेश] करता रहता है [क्योंकि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है] वह जगदीश्वर किसी पदार्थ को नहीं भोगता । वह सब भोगों से उत्तर [परे] । एवं सब से महान् है ।

(अथ० २० । १२६ । १३ (वृषाकपायि) हे सर्वशक्तिमज्जगन्नायक

ब्रह्म की बिभूति, (रेवति) हे ऐश्वर्य युक्त, (सुपुत्रे) हे उत्तम पुत्रों को देने वाली वा उत्तमता से पवित्र करने हारी, (सुस्नुषे) हे बहुत सुख वर्षाने वाली, (ते) तेरे (उक्षणः) बढ़ती करते हुये पदार्थों एवं (प्रियम्) प्यारा, बहुत सुख प्रद, (काचित्करम्) सुखों का चयन नाम प्रापण करने वाला, (हविः) दान अर्थात् उत्तम अभीष्ट घृतादि पदार्थों को, (इन्द्र) अनेक शक्ति वा पुरुषार्थ—प्राप्त, सुख सामग्री युक्त राजा वा अन्य मनुष्य, (घसत्) खावे [भोगे] (इन्द्रः) जगदीश्वर, (विश्वस्मात्)=सब जगत् से, (उत्तरः) उत्तम है।

द्वितीयार्थ—(वृषाकपायि) हे बड़े बलिष्ठ लोक शासक राजा की रानी! (रेवति) प्रचुर धनैश्वर्यधारी, (सुपुत्रे) हे विद्वान् एवं वीर पुत्रों की जननी (सुस्नुषे) हे मनोहर वचनों की वर्षा करने हारी, (ते उक्षणः) तेरे बढ़ते हुये पदार्थ, और (प्रियम्) जन हितकर, (काचित्करम्) सुख साधन, (हविः) दान को, (इन्द्रः) परमेश्वर, (घसत्) ग्रहण करे अर्थात् उसके, उपदेशानुसार हो, कुतः, (विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः) [अस्ति] सर्व जगत के प्राणियों से (इन्द्र) जगदीश्वर ऊपर वा परे है।

(१) भावार्थ—जगदीश्वर ही सब से बलवान् सब का चालक वा शासक है, सब अभीष्टों, [शारीरिक सुखों, पुत्र पौत्रादि ऐश्वर्यों] का दाता है, मनुष्य पुरुषार्थ करके धर्म एवं न्याय से सर्व सुख एवं सुख साधन ग्रहण करें, अन्यायादि से न लें, अन्यथा दुःख के भागी होंगे।

(२) भावार्थ—हे बड़े राजा की रानी! वा शक्ति शाली राजन्! तू परमेश्वर के उपदेश का अनुसरण करता हुआ निज धार्मिक पुरुषार्थ से प्राप्त किये हुए पदार्थों को ही भोग, जगत् का ऐश्वर्य प्राप्त करके ऐहिक एवं पारमार्थिक सुखार्थ स्वैश्वर्य का न्याय से सुपात्रों को दान दे और जगदुपकार में लगा, नाम के लिये चाटुकारी दुराचारियों को अन्याय से मत दे, क्योंकि जगदीश्वर सर्वोपरि विराजमान अपने पुत्रों के हितार्थ जगत् को रचकर न्याय से सब को देता है।

(अथ० २० । १२६ । १४) (पञ्चदश) पन्द्रह अर्थात् ५ प्राण और १० इन्द्रियां (विंशतिम) २० अर्थात् ५ सूक्ष्म भूत [शब्दादि] ५ स्थूल भूत [आकाशादि] ४ अन्तःकरण [मन बुद्धि चित्त अहङ्कार] और छह रस [मिष्ठादि] (इन्द्र) जगदुत्तर ऐश्वर्य मज्जगदीश्वर, (विश्वस्मात्) उन सर्व

जगत् के भोगों से (उत्तरः) परे है आप्तकाम [सर्व पदार्थों को नित्य एकरस व्याप्त किये हुए] होने से ।

भावार्थ—जगत् के सब पदार्थ प्राणियों के भोग के लिये जगदीश्वर ने रचे हैं, वह सर्वाधार सर्वाध्यक्ष एवं सब पदार्थों में सदैव बाहिर भीतर से ओत प्रोत प्रविष्ट होने से भोग कल्पना से परे है, भोग की आवश्यकता इस लिये भी नहीं रखता कि भोग अपने स्वरूप से बाहर के शरीर के लिये [जिसमें उपचय अपचय हो] होता है । उस से बाहर कोई वस्तु नाम उस का शरीर नहीं कुतः वह अनन्त है । अतः कोई भी कदापि नहीं चाहिये ।

(अथ० २० । १२६ । १५) (भावयुः) प्रापयपुः = प्राप्त कराने की इच्छा वाला परमात्मा, (इन्द्रः) सब से महानैश्वर्य वाला महेश्वर, (विश्वस्मात्) सब जगत् के भोगों एवं भोगेच्छाओं से, (उत्तरः) उतरा हुआ है । क्योंकि वह आनन्द स्वरूप है और जीवों को भोगों से [संसार दुःख सागर से] उतारने वाला है [देखो मन्त्र० १४] ।

(अथ० २० । १२६ । १६) (निषेदुषः) आत्मस्थस्य = स्वरूप प्रतिष्ठितस्य, ईश्वर से योग करते हुये का, अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरों को निश्चेष्ट [निष्क्रिया = स्थिर] करके आत्म चिन्तन शक्ति को परमात्म चिन्तन में लगाने वारे योगी का, (इन्द्रः) अलौकिक ऐश्वर्य वाला प्रभु ।

भावार्थ—मनुष्य सर्व ऐश्वर्य प्रद सर्वोत्तम भुवनपति परमात्मा का नित्य न्यून से न्यून द्विकाल सन्ध्यान वा साक्षात् दर्शन कर अपने ऐश्वर्य को बढ़ावें, और एवं विधि सर्व दैहिक,मानसिक और आत्मिक सुखों को भोगते हुये दुःख सुख में समता करके [समान समझ के] मुक्त हों ।

आरसी [आलसी] नास्तिक होकर ईश्वर [दाता] के स्थान में ऐश्वर्य [दान] के चिन्तन (चोरी अन्याय आदि) में न लग कर वा लगे रह-कर निर्धन दुःखी वा साधन दुःखी (दरिद्री दुःखी वा ऐश्वर्यवान् दुःखी) अर्थात् धन, धान्य पुत्र, पौत्र, स्त्री, प्रजा, नाना पशु, महल भवन राज्यादि होते हुए भी शरीर दुःख वा मानसिक दुःख [लौकिक चिन्ता] एवं आत्मिक दुःख रूप अज्ञान, उलटे ज्ञान [भ्रम भंवर] में फंसे रहकर दुष्ट [भोग] योनियों के साधक न बनें ॥

(अथ० २० । १२६ । १७)ध्यान में=ईश्वर उपासना में (इन्द्रः) अतुलित

ऐश्वर्य गुरु स्वयम्भु । भाव यह है कि—ऐश्वर्य दाता कर्माध्यक्ष परमेश्वर के चिन्तन से ऐश्वर्य प्राप्त होता है । अन्यथा नहीं । (म० १६ देखो) ।

(अथ० २० । १२६ । १८) (अयं वृषाकपिः) यह बलवान् राजा वा ईश्वर, जब (परस्वन्तम्) पालन कार्य को वा (परसुअन्तम्) दूसरे के सुन्दर [अभीष्ट] परिणाम वा सिद्धि (हतम्) नष्ट किया हुआ, (विदत्=विन्दति) पाता है । [पाया है] प्राप्त कराता है । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला महाराजा वा परमात्मा, (विश्वस्मात्) देश, लोक, वा सर्व जगत् से (उत्तरः) विशेष न्यायी शासक है ।

(अथ० २० । १२६ । १६) (दासमार्यन्) डाकू वा शूद्र [मूर्ख सेवक] और श्रेष्ठ पुरुषों को, (विचाकशत् विचिन्वन्) साक्षी रूप से पहचानता [विवेचना करता] हुआ, (अयम्) यह मैं [इन्द्र] (एमि) प्राप्त होता हूं । इन्द्र=राजा ।

(अथ० २० । १२६ । २०) (च च) बनैलू हिंसक पशु और, (उपदहि) प्यार से आ, यह विचारता हुआ कि (इन्द्रः) परमेश्वर परम पिता, (विश्वस्मात्) सर्व भयों से, (उत्तरः) पार करने वाला है ।

(अथ० २० । १२६ । २१) (वृषाकपे) सर्व शक्तिमान् जगन्नियन्ता परमेश्वर, (पुनः) बार बार [प्रातः के पश्चात् सायं वा अनेक बार], (आ इहि) साक्षात् प्राप्त होवे, (कल्पयावहै) हम दोनों [स्त्री पुरुष] विचार पूर्वक करें, (अस्तम) हमारे अन्तःकरणों में, (एषि) साक्षात् प्रत्यक्ष होता है ।

(भावार्थ)—आत्मा=आत्मबल ।

भावार्थ—पति पत्नी [दम्पति] को चाहिये कि प्रातः सायं ईश्वर को सर्वशक्तिमान् कर्मफल दाता, आलस्यादि दुर्गुणों से छुड़ाने वाला, और उत्तम गुण और ऐश्वर्य प्राप्त कराने, संसार सागर से पार करने वाला जान कर परमेश्वर की उपासना किया करें ।

(अथ० २० । १२६ । २२) (वृषाकपे) हे अनन्त बली सर्वनेता सर्वेश्वर परमात्मन् ! , (इन्द्र)= महदैश्वर्य वाला जीवात्मा, और (इन्द्राणी) इन्द्र (बड़े ऐश्वर्य वाले जीव) के शरीर की पत्नी-शरीरस्थ जीवात्मा वा विभूति रूप बुद्धि, (गृहिम्) स्वस्थिति स्थान को [स्थिरता को] (इन्द्रः) सर्वाधिपति जगत्पिता ।

भावार्थ—जब मनुष्य ईश्वर उपासना करता हुआ अपनी शक्तियों, अन्तःकरणों आत्म-स्वरूप और परमात्म—स्वरूप का यथार्थ निश्चय कर लेता है। तब कोई दुष्कर्म वा दुष्ट प्राणी उसे हानि पहुंचाने को उस के समीप भी नहीं पहुंच सकता। सर्व दुष्टात्माओं और दुष्ट पदार्थों से उसको पार करने वाला परमेश्वर है।

(अथ० २० । १२६ । २३) (मानवी) मनुष्य की शक्ति, (ससूव) सवति= प्राप्त करती है (षु ऐश्वर्ये) (भल) उदार विवेकी [जीवात्मा] माता=गर्भ धारिका के लिये, (भद्रम्) कल्याण कर=सुखदाता, (अभूत्) भवति=होता है, (आमयत्)=आमयति=पीड़ित करता है। यह दुःख सुख का द्वन्द्व लोक माता को ही होता है, जगन्माता को नहीं क्योंकि (विश्वस्मात् इन्द्र उत्तरः) वह आनन्द स्वरूप होने से इन सब से परे है।

इत्यथर्ववेदभाष्यपरिशिष्टम् ।

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम—

श्री सयाजीराव गयकवाड़ाधिष्ठित-

बडोपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम्

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये परिशिष्टं समाप्तम्।

इदं परिशिष्टं प्रयाग नगरे धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि—

श्री राजराजेश्वर पञ्चम जार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये वैशाखशुक्लाचतुर्थ्यां संवत् १९७८ [अष्टसप्तत्यु—त्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे,

(तारीख़ ११ मई १९२१ ईस्वीये) मुद्रितम् ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१३ की प्रति ।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें ॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि ।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्रहक बनें तथा अन्यों को बनावें ।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे॥

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २७ जूलाई १९७६ ई०)

मान्यवर नमस्ते ! ॥ ओ३म् ॥

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ९ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मी मात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाजके पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

B. Sc,. LL. B. उपमन्त्री ।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१६१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-
प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय—
मदन मोहन सेठ

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१६१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामीदयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाषा की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दाबन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का प्रारम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो ... छपाई और कागज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराय जी**—जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७—१०—१९१६।

अथर्ववेदभाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२—१२—१९१६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिव शंकर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है। ...... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में ...... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है ... भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१—१०—१९१५॥

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हमें सभों पर अत्यन्त कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक **हवनमन्त्रा:** की जिस का मूल ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है ।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी, १९१३ ।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है'''बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं । स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है" । आप का भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है ।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तेहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३ ।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ हो गया । वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है । प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उस से कार्य लिया जा सकता है ।

बाबू **कालिकाप्रसाद** जी—सिटक मर्चेन्ट कमनगाड़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३ ।

आपका भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपको भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें । आप बहुत काम एक साथ न छेड़ कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे । मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना ।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**, मु० एकडका पोस्ट किशुनपुर ज़िला फ़तेहगढ़ हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३ ।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेदभाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है । आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है । ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें ।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७—९—१३ ।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य--पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६— लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है--जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं—इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।............इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्तसंख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इस लिये सब आर्यों को परम उचित है कि पं० क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है.........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर इस लिये—न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State letter No* 624 *dated 6th February* 1913.

...It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them ...also add on the address lable "For Encourgement Fund"

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya :—It is a jigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature......The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meantng in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayanand, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjai and other standard ancient works... . The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya who venerates the Vedas he has made an honest attempt to find in the Vedic varses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves .. Our earnest requsest is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The painting and paper are good, the price is moderate.